॥ श्रीहरिः ॥

571

श्रीकृष्णालीलाका चिन्तन

विशिष्ट संस्करण

गीताप्रेस, गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR

है, उनके लिये व्रजपुर—व्रजराजकी पुरी सदा वर्तमान रहती है। वृन्दाकानन सदा उनके नेत्रोंमें भरा रहता है। अस्तु, आज भी पुरीका आविर्भाव हुआ है, न कि विश्वकर्माने सचमुच उसका निर्माण किया है। कदाचित् विश्वकर्मा इस रहस्यका अनुसंधान पा गये होते तो उन्हें यही दीखता—उनके हाथसे संधित किये हुए पद्मराग, स्यमन्तक, चन्द्रकान्त आदि मणिसमूहोंको योगमाया अपने हाथमें ले-लेकर विलुप्त करती जा रही है एवं उन-उन स्थलोंपर नित्य व्रजपुरके अनन्त अपरिसीम चिन्मय वैभवका प्रकाश होता जा रहा है। कविकी रसनामें यह सामर्थ्य नहीं कि उसका चित्रण कर सके। चित्रण दूर, मनकी कल्पना भी वास्तवमें उस विचित्र वैभवके किसी एक अंशको भी—उस सर्वथा अतुलनीय नित्य चिदानन्दमय श्रीसौन्दर्यकी कणिकामात्रको भी छू नहीं पाती। केवल उसकी अनुभूति होती है; किसे होती है, कैसे होती है, यह बताना भी असम्भव है। पर होती है, यह सत्य है। फिर उसकी छायामात्र मनमें आती है। इस छायाके किसी क्षुद्र अंशको वाणी ग्रहण करती है और शाखाचन्द्र-न्यायसे ही उस अनुभूत सत्यको व्यक्त करते हुए कवि आनन्दकम्पित कण्ठसे पुकार उठता है—वह देखो, वृन्दावनकी व्रजेन्द्रपुरीकी अप्रतिम शोभा!—

क्वचिन्मरकतस्थली कनकगुल्मवीरुद्द्रुमाः
क्वचित्कनकवीथिका मरकतस्य वल्ल्यादयः।
क्वचित्कमलरागभूः स्फटिकगुल्मवीरुद्द्रुमाः
क्वचित्स्फटिकवाटिका कमलरागवल्ल्यादयः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'कहीं तो मरकत-मणिमय अकृत्रिम भूमि है। उस भूमिपर स्वर्णमय गुल्मलताएँ एवं द्रुमसमूह परिशोभित हैं, कहीं स्वर्णकी ही वीथियाँ (गली) बनी हैं। नहीं-नहीं, सर्वत्र स्वर्ण-ही-स्वर्ण आस्तृत है, मृत्तिकाका लेश भी नहीं। और इस स्वर्णभूमिमें मरकत-मणिमय वल्लरियोंकी, गुल्मतरुपंक्तिकी छटा फैल रही है तथा कहीं पद्मराग-रचित भूमि है, उसपर स्फटिकनिर्मित गुल्म-लता-वृक्ष-समूह विराजित है; और कहीं स्फटिककी वाटिका बनी है, उसमें पद्मरागकी लताएँ, गुल्म एवं तरुराजियाँ झूम रही हैं।'

और देखो—

क्वचिन्मरकतद्रुमाः कनकवल्लिभिर्वेल्लिताः
क्वचित्कनकपादपा मरकतस्य वल्लीजुषः।
क्वचित्स्फटिकभूरुहाः कमलरागवल्लीभृतो द्रुमाः
कमलरागजाः स्फटिकवल्लिभाजः क्वचित्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'कहीं तो ये मरकतद्रुमसमूह कनकलताओंसे परिव्याप्त हैं एवं यह स्वर्णपादपश्रेणी मरकतकी बनी वल्लरियोंसे सुमण्डित हो रही है तथा कहीं स्फटिकोंकी वृक्षावलि है, जो पद्मरागमणिकी लताओंसे उद्भासित हो रही है। और कहीं पद्मरागके वृक्ष हैं, जो स्फटिकमय लताजालसे समुज्ज्वल हो रहे हैं।'

और भी सुनो, देखो, कितना आश्चर्य है!

न सोऽस्ति मणिभूरुहो विविधरत्नशाखो न यः
सुचित्रमणिपल्लवा न खलु या न शाखाश्च ताः।
न तेऽपि मणिपल्लवा विविधरत्नपुष्पा न ये
न पुष्पनिकरोऽप्यसौ विविधगन्धबन्धुर्न यः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'यहाँ मणिमय ऐसा कोई वृक्ष नहीं, जिसके शाखा-समूह विविध-रत्नमय न हों। प्रत्येक मणिमय वृक्षकी शाखावलि विविध रत्नोंसे ही निर्मित है। फिर इन शाखाओंमें ऐसी कोई शाखा नहीं, जो विविध वर्णके मणिमय पल्लवजालसे मण्डित न हो—प्रत्येक वृक्षकी प्रत्येक शाखा बहुवर्ण मणिमयी पल्लवराजिसे राजित हो रही है। ऐसे मणिपल्लव नहीं, जिनमें रत्नमय कुसुम-समूह प्रस्फुटित न हुए हों—सभी मणिपल्लवोंपर रत्नमय कुसुमनिकर झलमल-झलमल कर रहे हैं और फिर ऐसा कोई पुष्पनिकर नहीं, जिससे विविध भाँतिकी सुगन्ध प्रसारित न हो रही हो—कुसुमसमूहोंसे भाँति-भाँतिके सौरभ झर रहे हैं!'

अहा! देखो, कैसी सुन्दर शोभा है—

विहारमणिपर्वतप्रकरतः पतद्भिर्मणिद्रवैरिव सुनिर्झरैः स्वयमितस्ततः पूरिता।
स्थलस्थलरुहां मणीतरमणीभिराकल्पिता तथा मणिपतत्त्रिभिर्विलसिताऽऽलवालावली॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'वृक्षोंके मूलदेशमें आलवाल (गट्टे) निर्मित हैं। विहारसम्बन्धी मणिमय-पर्वत-समूहोंसे निर्गलित मणिद्रवकी भाँति सुन्दर निर्झरोंके द्वारा वे आलवाल अपने-आप सब ओरसे पूर्ण हुए रहते हैं। इन आलवालोंकी रचना भी कितनी सुन्दर है! जिन मणियोंकी भूमि है, तरु हैं, उनसे भिन्नवर्ण मणियोंके द्वारा इनका निर्माण हुआ है और फिर मणिमय विहंगम-कुल इनमें विहार कर रहे हैं!'

इन मणिमय वृक्षोंमेंसे कुछको तो भले ही तुरंत पहचान लो—केवल उन्हें, जिनके रूप-रंग वैसे-के-वैसे, ज्यों-के-त्यों हैं, कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ है; किंतु शेषको तो बड़े ध्यानसे देखनेपर, उनके पत्रोंकी आकृति, स्कन्धविन्यासपर गम्भीर विचार करके ही जान पाओगे कि यह अमुक तरुश्रेणी है। पर फिर भी वास्तवमें नहीं पहचान पाये। सुनो, इसका रहस्य सुन लो—यहाँ जितने वृक्ष हैं; सभी कल्पतरु हैं; जितनी वल्लरियाँ हैं, सभी कल्पलतिकाएँ हैं—

वल्ल्यः सर्वा यत्र ताः कल्पवल्ल्यो वृक्षाः सर्वे कल्पवृक्षा वकारेः। (श्रीगोविन्दलीलामृतम्)

शाल, ताल, तमाल, अश्वत्थ, कपित्थ, वकुल, नारिकेल, रसाल, प्रियाल, श्रीफल, करील, कोविदार, देवदारु, मन्दार, जम्बीर, चन्दन, अशोक, कदम्ब, गुग्गुल, पीलु, गन्धपिप्पली, गजपिप्पली आदि जितने वृक्ष हैं, सभी कल्पपादप हैं। वासन्ती, वनमल्लिका, स्वर्णयूथी, जाती, यूथी, मल्लिका, मुद्गरा, अपराजिता, गुञ्जा, शतमूली, बिम्बफललता, लवङ्गलता आदि जितनी लताएँ हैं, सभी कल्पवल्लरियाँ हैं। नन्दनकाननके कल्पपादप नहीं, उससे सर्वथा विलक्षण! प्राकृत कल्पवल्लियाँ नहीं, उससे सर्वथा भिन्न। ये तो स्वयं-भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनके चिन्मय धामके चिन्मय तत्त्वसे गठित हैं।

इन विचित्र वैभवोंसे पूर्ण वहाँ न जाने कितनी पुरियाँ हैं। व्रजेशके अधीन प्रत्येक गोपकी अपनी-अपनी पुरी है, प्रिय-परिजनसहित सबके लिये पृथक्-पृथक् आवासगृह हैं। एक-एककी छटा देखते ही बनती है। कितना देखोगे? देखनेका अन्त जो नहीं आयेगा। इसलिये सबके प्रधानभूत केवल व्रजेन्द्रके आवासको देख लो, सो भी उसके अत्यन्त स्वल्पतम अंशको ही देख सकोगे। इसके सम्पूर्ण अंशको तो आजतक किसीने देखा ही नहीं! अहा!

मसारप्राचीरं मरकतगृहं हेमपटलं प्रवालस्तम्भालि स्फटिकवृति वैदूर्य्यवडभि।
महानीलेन्द्राट्टं विमलकुरुविन्दोपलमहाप्रतीहारं नानाकृतिजितविमानावलि पुरम्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

पुरीके प्राचीरका निर्माण तो हरितमणिसे हुआ है। गृहसमूह मरकतमय हैं। गृहके आच्छादन (छतें) स्वर्णमय हैं। स्तम्भ प्रवालनिर्मित है। वेष्टनी (घेरा) स्फटिक-घटित है। गृहचूड़ा वैदूर्यरचित है। अट्टालिकाएँ महानीलमणि-निर्मित हैं तथा सुदीर्घ द्वारावली कुरुविन्दमणिमय प्रस्तरोंसे गठित हैं। विविध भाँतिसे सुचित्रित इस पुरीकी सौन्दर्य-शोभाकी तुलनामें दिव्यातिदिव्य विमानपङ्क्ति भी हेय प्रतीत हो रही है।

स्थान-स्थानपर शिल्पनैपुण्यसे अङ्कित शुक-पिक आदि पक्षियोंकी प्रतिकृति भ्रम उत्पन्न कर दे रही है—यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि ये चित्र हैं या जीवन्त विहंगम। यह आश्चर्य अवश्य है कि छविमय होते हुए भी यहाँ सभी कुछ चिन्मय है। जड कुछ है ही नहीं। ये मणि, मुक्ता, रत्न और स्वर्ण आदि कठोर नहीं हैं, अत्यन्त कोमल हैं; ये रूक्ष नहीं, रसमय हैं। यहाँके कण-कणसे एक परम दिव्य ज्योति झर रही है। ऐसी उज्ज्वल ज्योति, जो प्राकृत जगत्के

कोटि सूर्योंमें भी नहीं, पर साथ ही इतनी शीतल-सुखद कि प्रपञ्चके कोटि चन्द्रोंकी पुञ्जभूत किरणोंमें भी नहीं। यहाँ भी एक सूर्य तो है; पर वह प्राकृत विश्वका सूर्य नहीं, प्राकृत सूर्यसे अत्यन्त विलक्षण, परम सुन्दर—शोभन सूर्य है। एक पीयूषवर्षी चन्द्र यहाँ भी है; पर वह प्राकृत चन्द्र नहीं—प्राकृत चन्द्रसे सर्वथा भिन्न, सौन्दर्यपुञ्ज अतिशय सुषमाशाली दूसरा ही चन्द्र है। यहाँ भी सुनील गगनमें मङ्गल है, बुध है, बृहस्पति है, शुक्र है, शनि है, केतु है, राहु है, असंख्य तारकपङ्क्ति है; पर प्रापञ्चिक भौम, बुध आदि नहीं—इनसे सर्वथा पृथक्, परम रमणीय, तेजोमय भौम, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, केतु, राहु एवं नक्षत्रावलि हैं—

स्वतेजसा तु सुभास्वत् सुपीयूषकिरणं सुमङ्गलं सुबुधं सुजीवं सुकविगम्यं सुभानवं सुकेतु सुतमः सुतारकम्। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

ओह! शब्द नहीं कि व्रजेन्द्रपुरीके अमित वैभवको कोई व्यक्त कर दे, उसकी ओर-छोर-विहीन महिमाको भाषाका रूप दे दे। इसीलिये कहते-कहते अन्तमें हारकर मौन ही होना पड़ता है। पर कदाचित् चन्द्र-सूर्यकी बात सुनकर शङ्का न हो जाय, इसलिये एक बात और सुन लो। श्रुतियाँ जिसके लिये निर्देश करती हैं—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

(कठ० २। २। १५)

'वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्र एवं न तारकसमुदाय ही प्रकाशित होता है और न विद्युत् ही प्रकाश करती है। फिर वहाँ अग्निका प्रकाश तो सम्भव ही कहाँ? क्योंकि उसके नित्यप्रकाशसे ही तो इन सूर्य, चन्द्र आदिमें प्रकाशका संचार होता है, उसके आंशिक प्रकाशको पाकर ही तो ये प्रकाशित होते हैं, सारा जगत् भी उसीके क्षुद्रतम अंशसे ही प्रकाशित हो रहा है।'

श्रुतिप्रतिपादित यह धाम भी व्रजेन्द्रपुरीसे कोई पृथक् सत्ता नहीं रखता। अवश्य ही उस ज्योतिर्मय धाममें निमग्न होनेके अनन्तर ही यह अनुभव होता है कि व्रजेन्द्रपुरीमें सूर्य, चन्द्र आदिकी बात है तो परम सत्य; पर वे सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहगण सर्वथा दूसरे हैं, प्राकृत ग्रहोंसे सर्वथा भिन्न हैं—

प्राकृतेभ्यो ग्रहेभ्योऽन्ये चन्द्रसूर्यादयो ग्रहाः।

(श्रीभागवतामृतम्)

यह बात भी नहीं कि ऊपर वर्णित वृक्ष, वल्लरी, भूमि, गृह, ग्रहसंस्थान आदि वस्तुओंका कोई इत्थम्भूत रूप है; इतना है, ऐसे है, ऐसे नहीं है; इस प्रकार इनके लिये सीमा बाँधी जा सके। यहाँकी एक-एक वस्तु स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी स्वरूपशक्तिकी परिणति है, इसीलिये ये सब भी अमर्यादित हैं। जड वस्तुकी भाँति इनके रूप, रंग, आकार, प्रकार, स्थिति, गुण, चेष्टा, भाव आदिकी इयत्ता नहीं। ये तो श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य लीलामहाशक्तिका निरन्तर अनुसरण करते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रकी जब जैसी लीलाका प्रकाश होता है, उसके लिये जो जैसी जितनी सामग्री चाहिये, उसी रूपमें इनका प्रकाश होता है। लीलापरिकरोंकी सुख-सुविधाके लिये, उन्हें भाँति-भाँतिके उपकरण दे-देकर उनका प्रीतिविधान करनेके लिये, श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलाको मधुरातिमधुर बनाकर, स्वयं उसका रसपान कर क्षण-क्षणमें आनन्दसिन्धुमें निमग्न होनेके लिये न जाने ये कितनी बार अपना विस्तार, संकोच, रूपपरिवर्तन, अपने अस्तित्वका ही अदर्शन आदि अतिशय चमत्कृत कर देनेवाली चेष्टाएँ करते हैं। एक स्थानसे दूसरे स्थानकी दूरी, मान लें, अभी इस क्षण सोलह कोस परिमित है। लीलापरिकर और स्वयं श्रीकृष्णचन्द्र अथवा लीलापरिकरके दो वर्ग एक-दूसरेसे इतनी दूरपर अवस्थित हैं। यह दूरी भी लीलाप्रकाशके लिये उपयुक्त है। पर साथ ही तुरंत आवश्यकता हुई कि लीलापरिकर तुरंत मिल जायँ, एक क्षणमें ही उनका

परस्पर मिलन हो जाय, तो उसी क्षण वह सोलह कोस परिमित भूमि अपनेको ठीक उतने समयके अनुरूप यात्राके योग्य कर लेगी, संकुचित बन जायगी। लीलापरिकरोंमें कोई अथवा श्रीकृष्णचन्द्र यदि ऐश्वर्यशक्तिकी सहायतासे चमत्कार उत्पन्न करें तब तो लीलाका माधुर्य ही जाता रहेगा। फिर तो व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी अनाविल मधुरिमामय लीलारसपानका, रसदानका उद्देश्य ही अपूर्ण रह जायगा। इसीलिये बाहरसे तनिक भी, कुछ भी गन्ध न देकर ही, किसी भी अस्वाभाविकताका प्रकाश न करके, अचिन्त्यलीला-शक्तिकी प्रेरणा पाकर वह भूमि एक घड़ीमें यात्राके योग्य रूप धारण करेगी, नहीं-नहीं उसका ऐसा रूप बन जायगा। न तो लीलापरिकरको यह ज्ञान है कि भूमि इस क्षण संकुचित हुई और न स्वयं उस भूमिको ही यह भान है कि उसने अपना रूप संकुचित किया है। भूमि स्वयं उस लीलारसका पान कर रही है, उसकी अधिष्ठात्रीको—नहीं-नहीं, स्वयं उसको ही यही आवेश है कि मैं इतनी ही हूँ, लीलापरिकर भी उस समय यही अनुभव करते हैं कि भूमि इतनी ही है। असलमें तो इतनी है, इतनी नहीं—यह भान भी लीलापरिकरको कहाँ? लीलाका अङ्ग बनकर, मिलनसुखकी परिपुष्टिके लिये, वियोगरसको परम आस्वाद्य बनानेके लिये आवश्यकता हुई तो इस ज्ञानका विकास लीलाशक्ति कर देती है; नहीं तो, जो जहाँ जिस रसके पानमें निमग्न है, बस, वह वहीं डूबा रहता है। अथवा रसकी तरङ्गें उसे जिधर बहा ले जाती हैं, वह बह जाता है। इन तत्त्वोंका, रहस्योंका विश्लेषण तो वह करता है, जो तटस्थ होकर लीलासुखका, लीलातत्त्व-रहस्योंका चिन्तन करता है। जो सदाके लिये लीलामें निमग्न हो गया, वह नहीं। अवश्य ही इन बातोंका ठीक-ठीक दर्शन—सब घटनाओंका पूरा-पूरा सामञ्जस्य भी केवल उसीको होता है, जिसे श्रीकृष्णचन्द्रकी कृपा भीतर-बाहरसे अत्यन्त परिशुद्ध बना देती है, जो कृपाकी स्रोतस्विनीमें अवगाहन कर, अपने नेत्रोंका मैल धोकर, श्रीकृष्णचन्द्रके नखचन्द्रकी ज्योतिमें वस्तुतत्त्वको देखता है तथा जितना देखता है, अनुभव करता है, उसे भी वह वाणीद्वारा व्यक्त नहीं कर पाता। प्राकृत धरातलपर अप्राकृतको ठीक-ठीक क्या, किसी अंशमें भी उतार देना प्राकृत शक्तिके लिये तो असम्भव है। प्राकृत मन-वाणीके द्वारा तो यह सम्भव है ही नहीं। अनन्तैश्वर्यनिकेतन, अनन्तशक्ति, सर्वभवनसमर्थ श्रीकृष्णचन्द्र चाहे सो भले ही कर सकते हैं।

जैसे व्रजभूमिके लिये संकोच-विस्तार आदिकी बात है, वैसे ही लीलासे सम्बद्ध समस्त वस्तुओंके लिये। इन्द्रनीलमणितरु लीलामें योगदान करनेके लिये आवश्यकता होनेपर कदम्बमें परिणत हो सकता है, मणिमय रहकर ही श्रीकृष्णचन्द्रके किसी प्रिय सखाके लिये, किसी भी परिकरके लिये मनोहर सौरभपूर्ण सुन्दरातिसुन्दर, पर देखनेमें प्राकृत कदम्ब-जैसे ही पुष्प दान कर सकता है; पद्मरागका अशोक प्राकृतकी भाँति बनकर अथवा ज्यों-का-त्यों रहकर कर्णाभरणके लिये गोपसुन्दरियोंके हस्तकमलोंपर परम सुन्दर स्तबकगुच्छ—प्राकृत अशोककुसुमके समान ही दर्शनीय कुसुम-गुच्छ देकर लीलाकी यथोचित धाराको अक्षुण्ण बनाये रह सकता है। मणिमय रसाल आम्र सुस्वादु फलोंकी वर्षा कर सकते हैं। वन-का-वन लीलापरिकरके भावानुरूप, अथवा लीलाके सूत्रधार श्रीकृष्णचन्द्रकी इच्छाके अनुरूप प्राकृत-सा बनकर रसपोषणमें अपना योगदान कर सकता है, करता है। मृत्तिकाकी आवश्यकता होनेपर व्रजरानीके उस चिन्तामणिमय उद्यानमें, जहाँ एक क्षण पूर्व मृत्तिकाका लेश भी नहीं, सुरम्य बालुकाराशि, पङ्किल मृत्तिका—जो चाहिये, जहाँ चाहिये, जब चाहिये, वही वस्तु प्रस्तुत रहेगी तथा लीलाकी मधुमयी धारा निर्दिष्ट क्रमका अनुसरण करती आगे-से-आगे प्रसरित होती रहेगी।

वृन्दाकाननके लिये, इस काननमें अभी-अभी प्रकाशित हुई पुरीके लिये जो सत्य है, वही अबसे

सोलह प्रहर पूर्व परित्याग किये हुए बृहद्वनके लिये—बृहद्वनके व्रजपुर, राजभवनके लिये, वहाँके अणु-अणुके लिये है। स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी प्रकट लीलासे सम्बद्ध प्रत्येक वन, पर्वत, नद, नदी, सरोवर—उनके कण-कणके लिये हैं। यहाँ यह जानने योग्य है कि श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रत्येक लीलास्थली नित्य है, विभु है, चिन्मय है। उनका लीलाक्रमके अनुरूप आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। अथवा इसे ऐसे कह सकते हैं कि जहाँकी लीला समाप्त होती है, वहाँका अनन्त वैभव, आगे जहाँ लीलाका प्रकाश हो रहा है, होने जा रहा है, वहाँ उसमें जाकर मिल जाता है। यह मिलन-पृथक्करण भी प्राकृत द्रव्य एवं भावोंके संयोग-वियोग-जैसा नहीं है। सर्वथा अचिन्त्य है, अतर्क्य है। पर किसी अंशमें उसे समझनेके लिये प्राकृत उपादान ही हमारे सामने रहेंगे। अस्तु, अभी-अभी एक बात हुई है, उसे हम ऐसे समझ सकते हैं कि वृन्दाकाननकी व्रजेन्द्रपुरी जैसे नित्य है, वैसे ही बृहद्वनकी भी; किंतु जैसे तेजमें तेज मिल जाता है, जलमें जल समा जाता है; एक स्थानसे आहत अग्निका तेज अन्य अग्निमें मिलते ही उसीमें विलीन हो जाता है, मन्दाकिनीकी परम पुनीत वारिधारा कलिन्दनन्दिनीके पावन प्रवाहमें मिलकर एक बन जाती है—ऐसे मिले हुए तेजमें, वारिधारामें जैसे न तो अनित्यताका प्रश्न है, न हेयताका, वैसे ही जब बृहद्वनकी, वहाँकी व्रजेन्द्रपुरीकी लीला समाप्त हुई, श्रीकृष्णचन्द्र वहाँसे वृन्दाकाननमें पधारे, तब वहाँकी समस्त श्री, वहाँका अनन्त अपरिसीम सम्पूर्ण वैभव भी आकर वृन्दावनमें मिल गया। वह यहाँकी सद्यः प्रकटित व्रजराजपुरीमें समा गया, वहाँ नित्य रहते हुए ही; पर वहाँसे तिरोहित होकर, वृन्दाटवीमें आ मिला, व्रजेशके आवासमें आकर, उससे मिलकर एक हो गया—

नित्यत्वं सकलस्य यद्यपि हरेर्धाम्नः सुसिद्धं तथा-
प्येकस्मिन्नपरस्य सम्मिलनतो नानित्यता दृश्यते।
तेजस्तेजसि वारि वारिणि यथा लीनं च नो हीयते
तद्वत्सा च महावनस्थितपुरीलक्ष्मीरिमामाविशत्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

सचमुच, जगत्के प्राणियो! श्रीकृष्णचन्द्रसे, उनकी लीलासे सम्बद्ध किसी भी तत्त्व-रहस्यको एकमात्र उनकी कृपावारिकी कणिकामात्रको ही सम्बल बनानेपर ही जान सकोगे। अचिन्त्य भावोंमें तर्कोंके लिये स्थान जो नहीं। श्रद्धापूत चित्तसे अनुशीलन करनेपर उनकी कृपाशक्ति सत्यको अपने-आप व्यक्त कर देगी। उसे जानकर, अनुभव कर कृतार्थ हो जाओगे। वाणी इससे आगे मौन हो जाती है।

इस प्रकार श्रीकृष्णचरण-नखचन्द्रिकासे आलोकित चित्त हुए, दिव्य रसपानमें, आनन्दमें निमग्न हुए कविकी वाणी व्रजेन्द्रपुरीके लिये उपर्युक्त बातें—किसी अंशमें उस वैभवको हृदयंगम करानेके लिये अथवा स्वान्तःसुखाय—कह उठती है। फिर भी पुरीका अनन्त वैभव तो इससे बहुत आगेकी वस्तु है। प्राकृत द्रव्योंके भावोंके सहारे उसका वास्तविक चित्रण, वर्णन होनेका ही जो नहीं, असम्भव है। इसीलिये ऐसी महामहिम पुरीकी रचना करके रचना-अभिनयके मिससे पुरीके प्रकाशित हो जानेपर स्वयं देवशिल्पी विश्वकर्माने भी पुरीकी वास्तविक अद्भुत श्रीको, उसके असमोर्द्ध वैभवको, उसकी रूपरेखाकी एक अल्प-सी छटाको भी देखा या नहीं, यह कौन बताये? किसीकी दिव्य आँखें इतना ही देख सकती हैं कि देवशिल्पी एक अभूतपूर्व परमानन्दमें निमग्न हुए, आत्मविस्मृत-से हुए इतस्ततः घूम रहे हैं। उनका शिल्पज्ञान जो कभी कुण्ठित नहीं होता, उसे भी वे मानो पद-पदपर भूले जा रहे हैं। बार-बार ठहर-ठहरकर सोचने-से लगते हैं—आगे अमुक रचना कैसे हो? इतनेमें पुनः एक आवेश आरम्भ हो जाता है, उनका कौशलपूर्ण हस्त क्रियाशील बन जाता है और क्षणोंमें ही वहाँ एक चमत्कार मूर्त हो जाता है। जो हो, प्रथम उन्होंने गोपावासोंकी रचना की। फिर

दौड़े-से कुछ दूर चले गये। एक सुरम्य स्थलपर वे कुछ निर्माण करने लगे और देखते-ही-देखते व्रजेश्वर नन्दबाबाके परम सुहृद् महाराज श्रीवृषभानुजीकी पुरी झक-झक करने लगी।* उनके मनके मानचित्रमें तो ऐसी सम्पदा त्रिकालमें भी नहीं थी, पर न जाने कैसे, उनके ही हाथोंकी ओटसे यह बिखर पड़ी है। जो हो, कुछ क्षणके लिये तो उनका शिल्पज्ञान भूल गया। पर इसी बीचमें वे यथास्थान पुनः पहुँच गये। सोचने लगे व्रजेन्द्रनन्दकी पुररचनाकी बात। पुनः हाथोंमें तेज आया और क्या-से-क्या वस्तु प्रकाशित हो गयी। नन्दभवनको प्रकाशितकर वे नगरमें घूमने लगे, राजमार्ग-पुरवीथियोंकी रचना की। इसीके साथ वणिक्-आवासोंका, हाट-बाजारका भी निर्माण हो गया। फिर उनके मनमें रसकी एक बाढ़ आयी। उसीमें बहकर वे पुनः वृन्दाकाननमें आये, एक स्थलपर अपने रस-सने हाथोंसे उन्होंने स्पर्श भर किया, अपनी कल्पनाका रासमण्डल निर्माण करनेके लिये। बस, व्रजेन्द्रनन्दनकी सर्वलीलामुकुटमणि रासलीलाके उपयुक्त वह नित्य स्थली देदीप्यमान हो उठी। किसकी शक्ति है कि उसका चित्रण कर सके? जो हो, अब कुछ रचनाएँ और रही हैं और इसीलिये देवशिल्पी वृन्दावनमें घूमने लगते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रकी निभृत निकुञ्जलीलाकी भी एक झाँकी इस प्रपञ्चमें प्रकाशित हो, इसका आयोजन होने चला। देखते-ही-देखते, देवशिल्पीके हाथके अन्तरालसे, वृन्दावनमें ही तीस मनोहर रमणीय वनोंका आविर्भाव हो गया। यहाँ इस वनराजिमें ही राधा-माधवके स्वरूपानन्दसे चिन्मय, आदिरसकी स्रोतस्विनी प्रकट होगी; जगत्के आत्माराम योगीन्द्रमुनीन्द्रगण भी उसके एक कणसे सिक्त होनेके लिये लालायित हो उठेंगे। अस्तु, उन वनोंके दर्शनसे अपनेको कृतार्थ करते हुए देवशिल्पी मधुवनके निकट आ पहुँचे। वहाँ वृन्दावनेश्वरके लिये, वृन्दावनेश्वरीके लिये, '**यत्परो नास्ति**'—सुन्दर एक विहार-मन्दिरका निर्माण कर, उसके आविर्भावका दर्शन करके वे नगरमें ही लौट आये। देवशिल्पीने अन्तमें यह किया—अपने ज्ञानमें जिनके निमित्तसे जिन-जिन आवासोंका उन्होंने निर्माण किया है, उन गोपोंके नाम उन्होंने उनपर अङ्कित कर दिये। इसी समय योगमाया यवनिका अपसारित करने लगती हैं। निर्धारित समय समाप्त हो रहा है, मानो कोई देवशिल्पीके कानोंमें यह कह देता है। क्षणभरका भी विलम्ब न कर, परमानन्दमें झूमते हुए शिल्पशिष्योंके, यक्षसमुदायोंके साथ—वे वृन्दावनेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रके चरणसरोरुहमें उपस्थित हो जाते हैं। आते समय यह साहस नहीं हुआ था, दूरसे ही उन्होंने वन्दना की थी; किंतु धामके स्पर्शने अब उन्हें यह अधिकार दे दिया है। विनयावनत हुए व्रजेश्वरीके शिबिरद्वारपर ही अपना सिर रखकर, निद्रासुखमें निमग्न निद्रेशको नमनकर, निजपरिकरसहित देवशिल्पी अपने आवासकी ओर चल पड़ते हैं—

यानि येषां मन्दिराणि तन्नामानि लिलेख सः।
मुदा युक्तो विश्वकर्मा शिल्पैर्यक्षगणैः सह॥
निद्रेशं निद्रितं नत्वा प्रययौ स्वालयं मुने।

(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

एक वनकुक्कुटके मुखमें समस्त सुप्त व्रजवासियोंकी निद्रा हर लेनेकी शक्ति भरकर योगमाया स्वयं भी मानो वृन्दावनेश्वरके कमनीय श्रीअङ्गोंमें विलीन हो जाती है। बड़भागी विहंगम तत्क्षण पुकार उठता है। फिर तो एक साथ वह तुमुल कोलाहल होता है कि जिसकी तुलना नहीं।

'व्रजेन्द्रने कल जिस क्रमसे अपने जिस मनोनीत मानचित्रके अनुसार शकटमय नगरकी रचना की थी,

---

* बृहद्वनसे जब व्रजेश्वर वृन्दावन आने लगे तब उनके परम सुहृद, 'एक प्राण, दो देह' जैसे स्नेही श्रीवृषभानुने भी अपने अपरिसीम वैभवका त्याग कर उनका अनुगमन किया। महाराज नन्दके न रहनेपर बृहद्वनकी सीमामें वे श्वास भी लें, यह सम्भव नहीं। ऐसा अतुल स्नेह दोनोंमें है। इसीलिये वे भी साथ ही वृन्दाकाननमें पधारे हैं। सकुटुम्ब, सपरिवार ही नहीं, अपनी सारी प्रजाके साथ, अपने पूरे व्रजके साथ।

करवायी थी, उसमें तनिक भी हेर-फेर नहीं; किंतु उस शकटपुरीके पीछे इतना विशाल एवं ऐसा वैभवमय नगर इतने अल्पकालमें निर्मित हो गया है, सब आवासोंपर यथायोग्य सबके नाम अङ्कित हैं—ऐसे, इस भाँति, मानो शकटमय पुर उसके प्राङ्गणमें विश्राम कर रहा हो। बृहद्वनका बसा हुआ व्रजपुर ज्यों-का-त्यों उठकर रात्रिमें मानो यहाँ चला आया—और भी शतसहस्रगुणी अधिक सम्पदासे विभूषित होकर!·····।'—वयोवृद्ध विचारशील गोप आश्चर्यसे स्तब्ध हो गये।

केवल व्रजेश्वरको कोई आश्चर्य नहीं। उनका मन गुन-गुन कर रहा है—'यह तो मेरे इष्टदेव श्रीनारायणकी इच्छासे हुआ है, अपने दासको सुविधा देनेके लिये उन्होंने यह खेल किया है। उनके लिये ऐसे असंख्य वैभवमय नगरोंकी रचना एक तुच्छ क्रीड़ा है। पर ओह! कृपामय!·····।'—व्रजेश्वरके नेत्र छल-छल करने लगते हैं। दुकूलसे अपने सजल नेत्रोंका मार्जन करते हुए वे इस नवनिर्मित नगरमें घूमने लगते हैं, उन अङ्कित नामोंको पढ़-पढ़कर सबको प्रवेश करनेकी आज्ञा देते हैं—

भ्रामं भ्रामं तन्नगरं दर्शं दर्शं गृहं गृहम्।
पाठं पाठं च नामानि सर्वेभ्यो निलयं ददौ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

गोपोंका तुमुल कोलाहल इस लीलाके सूत्रधारकी निद्रा भी हर लेता है। अकचकाये-से होकर वे जाग उठते हैं। जननी कितना समझाती है—'मेरे लाल! अभी तो रात्रि है, किसी देवताने तुम्हारे लिये गृहका निर्माण किया है, नगरकी रचना की है, उस नगरकी मणिमय प्रभा राकाचन्द्रकी ज्योत्स्नासे मिलकर इतना प्रकाश फैला रही है। सूर्योदय होने दो, चलेंगे, देखेंगे·····।' किंतु कौन सुने? बलरामकी निद्रा भी भङ्ग हो गयी है। दोनों बाहर जानेके लिये अत्यन्त उत्सुक हैं। जननी दोनोंको क्रोडमें धारण किये अपने शकटशिबिरके द्वारपर आनेके लिये बाध्य हो जाती हैं।

धीरे-धीरे भुवनभास्करकी किरणें हाथोंमें रोली भरकर नवीन व्रजपुरका दर्शन करने, उसे तिलक लगाने, उसे सब ओरसे कुङ्कुमरागमें रँग देनेके लिये आ पहुँचती हैं। शीघ्रतासे यशोदारानी दोनों पुत्रोंका शृङ्गार करती हैं, कलेवा कराती हैं। यह समाप्त होते-न-होते दोनों ही भाग छूटते हैं। अगणित सखाओंको साथ लेकर राम-श्याम—दोनों भाई पुरकी शोभा देखते हैं। नगरभ्रमणका आनन्द लेते हुए यमुनापुलिनपर आ जाते हैं, फिर वहाँसे वनकी ओर चल देते हैं। आज सबसे पहले तो उन्हें गिरिराजके उत्तुङ्ग शिखरको ही छूना है। वृन्दाटवीकी सुषमा, गिरिराजकी मनोहारिणी शोभा, रविनन्दिनीके पुलिनका उन्मादी सौन्दर्य—राम-श्याम जितना अधिक इनका पान करते हैं, उतनी ही अधिक मात्रामें उनके मनकी लालसा बढ़ती जाती है, तृप्ति होती ही नहीं—

वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च।
वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ३६)

'और अब तो यह नवीन नगर भी हमारे यथेच्छ आनन्दवर्द्धनके लिये बन गया है, रातोंरात किसीने इसकी रचना कर दी है।'—लीलारसमत्त श्रीकृष्णचन्द्र अपनी ही रचनामें, मानो आप ही भूल-से जाते हैं। भूलें नहीं तो लीलारसकी पुष्टि कैसे हो? इस पुरीकी एक-एक वस्तु उन्हें लुब्ध किये रहेगी; बलरामका, यशोदारानीके नीलमणिका मन इनमें ही उलझा रहेगा—!

मनिन जटित सब भूमि, गुल्म, तरु-लता सुझूमत।
धवल धौरहर उच्च स्वच्छ कलसा नभ चूमत॥
झँझरिन झलक अपार द्वार-पट मनिन पटल कर।
फटिक चटक चौहटनि, चारु चकचौंध अटन पर॥
भनि 'मान' बिपुल बृंदाबिपिन अर्धचंद्र सम पुरसचिव।
मन रमिव राम घनस्याम कहँ तिन इच्छामाया रचिव॥

नन्दनन्दनकी भुवनमोहिनी वंशीध्वनिका विश्वब्रह्माण्डमें विस्तार तथा उसके द्वारा वृन्दावनमें रस-सरिताका प्रवाहित होना; उसके कारण स्थावर-जंगमोंका स्वभाव-वैपरीत्य

किसीने नहीं जाना—व्रजेशतनयने वंशीवादनकी शिक्षा कब, किससे ली। एक दिन सहसा वह अमृतपूरका प्रवाह बह चला एवं समस्त व्रजवासी उसमें निमग्न हो गये। कुछ क्षणोंके लिये सबकी चेतना विलुप्त हो गयी; जब वे प्रकृतिस्थ हुए, तब भी अपने-आप निर्णय नहीं कर पाये कि यह क्या वस्तु है! कतिपय गोपसुन्दरियोंने अवश्य देखा—प्रस्फुटित पीतझिण्टी पुष्पोंकी झुरमुटको परिवेष्टितकर गोपशिशु आनन्द-कोलाहल कर रहे हैं और उसके अन्तरालमें अपनेको छिपाये, अपने बिम्बारुण अधरोंपर हरित बाँसकी वंशी धारण किये श्रीयशोदाके नीलमणि स्वर भर रहे हैं। अपलक नेत्रोंसे जड पुत्तलिकाकी भाँति वे तो खड़ी-खड़ी देखती रह गयीं; पर उनके प्राणोंकी अनुभूतिका स्पर्श पाकर मानो पवन पुनः द्विगुणित चञ्चल हो उठा और उसने ही क्षणभरमें इतने विस्तृत व्रजपुरमें, व्रजपुरके प्रत्येक आवासमें, आवासके कोने-कोनेमें यह सूचना भर दी कि यह तो व्रजरानीके नीलमणिकी—नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी बजायी हुई मोहन वंशीध्वनि है!

यह ध्वनि वृन्दावनको झंकृत करके ही नहीं रह गयी। अन्तरिक्षको भी आत्मसात् करने ऊपर उठी, पातालको प्रकम्पित करने नीचे चली गयी। उधर तो मेघसमूह सहसा रुद्ध हो गये। स्वर्गायक तुम्बुरुकी दशा विचित्र हो गयी, आश्चर्यमें निमग्न विस्फारित नेत्रोंसे बारंबार वृन्दावनकी ओर झाँककर वह इस उन्मद नादका अनुसंधान पाना चाहता था। सनक-सनन्दन प्रभृति ऋषिवर्गका चिर-अभ्यस्त ध्यान टूट गया, विक्षिप्तचित्त होकर वे इस मधुर रवमें डूबने-उतराने लगे। विधाताके आश्चर्यका भी पार नहीं और उधर दानवेन्द्र बलिकी उत्सुकताकी सीमा नहीं; चिरशान्तस्वभाव बलि आज अतिशय चञ्चल हो उठे। भोगीन्द्र अनन्तदेव भी आज घूर्णित होने लगे। समस्त ब्रह्माण्डको भेदन करती हुई यह ध्वनि सर्वत्र परिव्याप्त हो गयी, सब ओर रससिन्धु उमड़ चला—

रुन्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपरं कुर्वन्मुहुस्तुम्बुरुं
ध्यानादन्तरयन् सनन्दनमुखान् विस्मापयन्वेधसम्।
औत्सुक्यावलिभिर्बलिं चटुलयन् भोगीन्द्रमाघूर्णयन्,
भिन्दन्ब्रह्मकटाहभित्तिमभितो बभ्राम वंशीध्वनिः॥

(श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धुः)

व्रजपुर वृन्दावनका प्रत्येक अधिवासी वहीं आ पहुँचा, जहाँसे यह उन्मद नाद प्रसरित हो रहा था। किंतु श्रीकृष्णचन्द्र यह भीड़ देखकर संकुचित हो गये, वंशीको अधरोंसे हटाकर संकोच छिपानेके उद्देश्यसे किसी अन्य बाल्यक्रीड़ाका उपक्रम करने चले। इतनेमें व्रजरानी भी आ गयीं। उनके प्राणोंको भी इस मोहनध्वनिने स्पर्श किया था तथा उत्कण्ठाके प्रबल आवेगमें बहकर ही वे यहाँ आयी थीं। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रको अपने लज्जानिवारणका समुचित स्थान प्राप्त हो गया। वे दौड़कर जननीके कण्ठसे जा लगे, उनके अञ्चलमें अपना मुख छिपा लिया। व्रजरानीके नेत्र छल-छल करने लगे।

अब आजसे, इस क्षणसे गोपसुन्दरियोंकी दिनचर्यामें एक और नवीन कार्यक्रम बना। श्रीकृष्णचन्द्र जिसे जहाँ मिलते, बस, उसकी ओरसे एक ही प्रार्थना होती—'मेरे लाल! तनिक-सी वंशी तो बजा दे।' विशेषतः जब श्रीकृष्णचन्द्र व्रजेश्वरके, व्रजरानीके अङ्कको सुशोभित करते होते, उस समय दल-की-दल व्रजसुन्दरियाँ एकत्र हो जातीं और कहने लगतीं—

हे कृष्ण! मातुकुचचूचुकचूषणेऽपि
नालं यदेतदधरोष्ठपुटं तवासीत्।
तेनाद्य ते कतिपयेषु दिनेष्वकस्मात्
कस्माद् गुरोरधिगतः कलवेणुपाठः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'कृष्णचन्द्र! मेरे नीलमणि! विचित्र बात है। भला,

देखो—कहाँ तो तुम्हारे ये सुकोमल, नन्हे-से अधर-ओष्ठपुट जननीके स्तनपानके लिये भी समर्थ न थे और कहाँ उसी अधरपर वंशी धारणकर इन ही कुछ दिनोंमें इतनी मधुर वंशी बजाना तुम सीख गये! अरे बताओ तो सही, इतने अल्प समयमें अकस्मात् इस मधुर वंशीवादनकी शिक्षा तुमने किस गुरुसे प्राप्त कर ली!'

निर्मञ्छनं तव नयामि मुखस्य तात
वेणुं पुनर्ललन! वादय वादयेति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'वत्स! मेरे लाल! तेरे चन्द्रमुखकी बलैया लेती हूँ। तू फिर वंशी बजा दे; बजा दे, साँवरे, बजा दे!'

श्रीकृष्णचन्द्र भी व्रजपुरन्ध्रियोंका यह प्रोत्साहन पाकर बाबा-मैयाके समक्ष वंशीमें रस भरने लगते तथा वंशी उनके अधरोंका रस पाकर स्वयं रसमयी बनकर वृन्दावनमें सरिता प्रवाहित कर देती—

ऊचुर्यदा स्वजननीजनकोपकण्ठे
तं वादयश्रथ सदा सरसीकरोति॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

उस समय ऊपर आकाशका दृश्य भी देखने ही योग्य होता। अन्य सुर-समुदायकी बात दूर, हंसवाहन चतुर्मुख स्रष्टाकी प्रेमविकृति दर्शनीय होती—

अष्टाभिः श्रुतिपुटकैर्नवंवैणवकाकलीं कलयन्।
शतधृतिरपि धृतिमुक्तो मरालपृष्ठे मुहुर्लुठति॥

(विदग्धमाधव)

'अपने आठ कर्णपुटोंके द्वारा उस नवीन मधुरास्फुट वेणुध्वनिका रस-पान करते हुए ब्रह्मा विभोर होने लगते, उनका धैर्य छूट जाता तथा वे कहीं हंसके पृष्ठदेशपर प्रेमविवश हो बारंबार लोटने लगते।'

सुरेन्द्रके सहस्र नेत्रोंसे अश्रुबिन्दु झरने लगते। सरलमति गोप आश्चर्यचकित होकर देखते—गगन मेघशून्य है, फिर भी बूँदें गिर रही हैं, शीतल सुखद वृष्टि हो रही है; वन, प्रान्तर आर्द्र होते जा रहे हैं; वृन्दावनकी भूमि किसी अभिनव वर्षाधारासे सिक्त हो रही है—

चित्रं वारिधरान् विनापि तरसा वैरद्य शारामयै-
र्दूरात पश्यत देवमातृकमभूद् वृन्दाटवीमण्डलम्।

(विदग्धमाधव)

नन्हे-से नन्दनन्दनकी वेणुध्वनिसे वृन्दाकाननमें स्थावर-जंगमोंका स्वभाव-वैपरीत्य तो अनिवार्य घटना होती—

द्रवति शिखरवृन्देऽच्छजले वेणुनादै-
र्दिशि दिशि विसरन्तीर्निर्झराप: समीक्ष्य।
तृषितखगमृगाली गन्तुमुत्का जडा तै:
स्वयमपि सविधास्था नैव पातुं समर्था॥

(श्रीगोविन्दलीलामृतम्)

'वेणुनादका स्पर्श पाते ही स्थिर पर्वतश्रेणियोंके शिखरसमूह द्रवित हो जाते, पाषाण तरल बनकर चारों ओर बह चलते, अनेक निर्झरोंका सृजन हो जाता। उन्हें देखकर तृषित विहंगमकुल, मृगयूथ पीनेके लिये उत्कण्ठित हो जाते, चाहते कि दौड़कर जा पहुँचें; किंतु उनके अङ्ग अवश हो जाते, उनमें एक विचित्र सुखमयी जडता आ जाती तथा स्वयं निकट आयी हुई उस वारिधाराका पान करनेकी सामर्थ्य भी वे खो बैठते।'

वंशीनादैः सरसि पयसि प्रापिते ग्रावधर्म
हंसीः सैदानितपदयुगाः स्तम्भिताङ्गी रिरंसूः।
आसन्नीशाः स्वयमपि जडा बद्धपादा न गन्तुं
ताभ्यो दातुं न विसशकलं नापि भोक्तुं मरालाः॥

'वंशीनादका चमत्कारी प्रभाव सरोवरके जलको जमाकर प्रस्तरका रूप दे देता। सरोवरमें संतरण करते हुए हंसिनीयूथके पैर भी जमे हुए जलके संसर्गमें आकर बँध जाते, साथ ही ध्वनिका मधुपान कर उनके अन्य समस्त अङ्ग भी निश्चल हो जाते। यही दशा हंसकुलकी होती। घन होकर प्रस्तररूपमें परिणत जलके उज्ज्वल तलमें उनके पादयुगल भी बद्ध हो जाते, वैसी ही जडता उनके अङ्गोंमें भी आ जाती। अन्तस्तलमें हंसिनीको अपना प्यार समर्पित करनेकी वासना लिये, अपनी सङ्गिनीको प्रेमोपहार दान करने एवं स्वयं भोजन करनेके उद्देश्यसे चञ्चुपुटोंमें मृणालखण्ड धारण किये वह मरालकुल भी जहाँ-का-तहाँ रुद्ध हो जाता। न तो मरालीको ही मृणाल प्रदान कर पाता, न स्वयं ही भक्षण कर पाता।'

पहले तो श्रीकृष्णचन्द्र वंशी बजानेमें संकोच करते, व्रजसुन्दरियोंका अतिशय प्रेमिल आग्रह होनेपर ही, जननीकी मनुहार पानेपर ही बजाते; पर क्रमशः उनका संकोच शिथिल हो गया। फिर तो यमुना-पुलिन रह-रहकर मोहन-वंशीनादसे निनादित होने लगा तथा जितने

क्षण वह स्वरलहरी काननको गुञ्जित करती रहती, उतने समयमें वहाँ न जाने क्या-से-क्या होता रहता—

नँदलाल बजाई बाँसुरी श्रीजमुनाके तीर री।
अधर कर मिलि सप्त स्वर सौं उपजत राग रसाल री॥
ब्रजजुबती धुनि सुनि उठ धाईं, रही न अंग सँभार री।
छूटी लट लपटात बदन पर, टूटी मुक्ता-माल री॥
बहत न नीर, समीर न डोलत बृंदा-बिपिन संकेत री।
सुनि थावर अचेत चेतन भए, जंगम भए अचेत री॥
अफल फरे, फल-फूल भए री, जरे हरे भए पात री।
उमग प्रेम जल चल्यौ सिखर तें, गरे गिरिन के गात री॥
तृन न चरत मिरिगा-मिरिगी दौउ, तान परी जब कान री।
सुनत गान गिरि परे धरनि पर, मानौं लागे बान री॥
सुरभी लाग दियौ केहरि कौं, रहत अबन हीं डार री।
भेक भुजंगम फन चढ़ि बैठे, निरखत श्रीमुख चारु री॥
खग रसना रस चाख बदत नहिं, नैन मूँदि मुनि धार री।
चाखत फलहि न परे चोंच ते, बैठे पाँख पसार री॥
सुर नर असुर देव सब मोहे, छाए ब्योम बिमान री।
चतुरभुजदास कहौ, को न बस भए या मुरली की तान री॥

अस्तु, वृन्दावन आनेके कुछ ही दिनों पश्चात् श्रीकृष्णचन्द्रने सर्वप्रथम इसी उन्मद वेणुनादका प्रकाश किया, मानो यहाँकी अग्रिम लीलाओंमें चिरसहचरी वंशीको अपने अधरोंपर धारणकर मङ्गलाचरण करने चले हों। साथ ही उनकी चञ्चलता भी बृहद्वनकी अपेक्षा यहाँ अतिशय बढ़ गयी। अवश्य ही चञ्चलताका क्षेत्र इस बार दूसरा है। यहाँ वे किसीके घर नहीं जाते, दधि-दुग्धका अपहरण नहीं करते, किसीके भी मटके नहीं फोड़ते। यहाँ तो कलेऊके अनन्तर सीधे वनमें या गोष्ठमें चले जाते हैं। छायाकी भाँति रोहिणीनन्दन बलराम उनका अनुसरण करते हैं, उनकी प्रत्येक चपल चेष्टाओंका अनुमोदन करते हैं, उनमें योगदान कर उनको प्रोत्साहित करते हैं तथा वहाँ गोष्ठमें, वनमें, उनकी क्रीडाका माध्यम अब बन गये हैं—गौ, गोवत्स, वृषभ। उनके साथ विविध क्रीडा करनेमें ही मध्याह्न हो जाता है और फिर संध्या आ जाती है। इसीलिये शङ्कितचित्त ब्रजराज अब स्वयं भी प्रतिदिन गो-चारणमें सम्मिलित होने लगे हैं। ब्रजरानीका भी अधिकांश समय गोष्ठमें ही व्यतीत होता है। पर ऐसे चञ्चलका नियन्त्रण सम्भव जो नहीं। ब्रजदम्पति देखते रह जाते हैं और श्रीकृष्णचन्द्र विश्राम करते हुए किसी विशालकाय साँड़की ग्रीवापर, पीठपर उछलकर चढ़ जाते हैं। पीछे राम उसकी पूँछ पकड़कर उमेठना आरम्भ करते हैं और वहाँ श्रीकृष्णचन्द्र उसके सींगोंको पकड़कर उसे उठकर चलनेका संकेत करते हैं। कभी कुछ गोवत्सोंको या गायोंको एकत्र कर लेते हैं, उन्हें अपने इच्छानुसार नचाते हैं और स्वयं नाचते हैं। दोनों भाई राजपथपर जा रहे हैं, इतनेमें शकटमें जुते बलीवर्द दीख पड़े; फिर तो उनके शृङ्गोंको पकड़कर उनसे विविध क्रीड़ा करना अनिवार्य है। भयभीत नन्दरानी कितना भी निवारण करें, ब्रजेश कितना भी समझायें; पर राम-श्याम कहाँ मानते हैं। ब्रजदम्पतिकी दृष्टि अन्य ओर गयी, वे किसी अन्य कार्यमें संलग्न हुए कि बस, दोनों ही भागे और फिर निश्चित है कि वे वहीं मिलेंगे, जहाँ सुदूर वनमें किञ्चित् वयस्क गोपशिशु वत्सचारण कर रहे हैं या युवक गोप गोचारणमें संलग्न हैं। अपने प्राणप्रतिम नीलमणिको, रामको इतनी दूर अकेले गये देखकर, सुनकर जननीका हृदय धक्-धक् करने लगता तथा उस दिन संध्याके समय अपने भुजपाशमें बाँधकर—जबतक दोनों निद्रित नहीं हो जाते, तबतक—वे समझाती रहतीं; किंतु नीलमणिका उत्तर तो यह होता—

मैया री! मैं गाय चरावन जैहौं।
तूँ कहि, महरि ! नंदबाबा सौं, बड़ौ भयौ, न डरैहौं॥
श्रीदामा लै आदि सखा सब, अरु हलधर सँग लैहौं।
दह्यौ-भात काँवरि भरि लैहौं, भूख लगै तब खैहौं॥
बंसीबट की सीतल छैयाँ खेलत में सुख पैहौं।
परमानंददास सँग खेलौं, आय जमुनतट न्हैहौं॥

उत्तर सुनकर जननीका रोम-रोम आनन्द-परिपूर्ण तो अवश्य हो जाता; पर इतने नन्हे-से नीलमणिको वे अभी वनमें गोचारण करने भेजेंगी, यह तो स्वप्नमें भी कल्पना नहीं होती। यशोदारानी किसी प्रकार प्रसङ्ग बदलकर नीलमणिको सुला पातीं।

अब श्रीकृष्णचन्द्र अपने वयके तीसरे वर्षमें प्रविष्ट हो चुके हैं। उनके शैशवके अन्तरालमें कुमारभावकी झाँकी स्पष्ट हो गयी है। उनका वस्त्र-परिधान-महोत्सव भी सम्पन्न हो चुका है। जननी अपने स्नेहसिक्त करोंसे नीलमणिको वस्त्र (धोती) धारण कराती हैं। उल्लासमें

भरकर यत्नपूर्वक बड़े मनोयोगसे वे पहन भी लेते हैं, पर दूसरे ही क्षण उसमें बन्धनकी अनुभूति कर स्वयं खोलकर फेंक भी देते हैं। पुनः उस सुन्दर पीताम्बरको देखकर धारण करनेकी इच्छा जाग्रत् होती है, जननीसे माँगकर स्वयं धारण करनेका प्रयास करते हैं, पर अपने हाथों धारण करनेमें कुछ अंश आवृत एवं कुछ अनावृत रह जाता है। उस समय उन्हें लज्जाका अनुभव होता है तथा और भी अधिक प्रयत्नसे वे वस्त्र धारण करने चलते हैं। प्रतिदिन ही उनके वस्त्र-परिधानकी यह मनोहर लीला होती है—

वस्त्रं दधाति जननीनिहितं प्रयत्नात्
क्षिप्रं च बन्धनधिया स्वयमुज्झहाति।
भूयस्ततर्दयति बिभर्ति च यस्य चोर्ध्वं
व्रीडां विकल्प्य लघु नित्यनयति स्म कृष्णः॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

किंतु उसी पीताम्बरसे जब वे दो-तीन-चार विशालकाय वृषभोंके शृङ्गोंको एक साथ जोड़कर उन्हें खींचना आरम्भ करते हैं, उस समय भयविह्वल व्रजरानी चीत्कार कर उठती हैं; व्रजेश्वरका हृदय भी दुर-दुर करने लगता है। पर उपाय क्या हो, नीलमणि सुनते जो नहीं। प्रत्युत प्रतिदिन उनकी ऐसी चपलता बढ़ती जा रही है, मानो जननी-जनकके हृदयको कँपा देनेवाली ऐसी क्रीडामें उन्हें अधिकाधिक रस आ रहा हो। जब देखो, तभी वे गायोंसे, गोवत्सोंसे, वृषभोंसे खेलते मिलेंगे। और फिर बलरामका सहयोग उन्हें प्राप्त है, अब किसका भय! जननीको सूचना देनेवाले तो दाऊ भैया ही हैं; वे ही जब सम्मिलित हैं, तब चिन्ता किस बातकी। अतः रक्षाका और कोई उपाय न देखकर व्रजेश्वरने व्रजरानीसे परामर्श कर यह निश्चय किया—

यदि गोसङ्गावस्थानं विना न स्थातुं पारयतस्तर्हि
व्रजसदेशदेशे वत्सानेव तावत्संचारयतामिति।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'यदि सचमुच राम-श्याम गायोंका सङ्ग छोड़ नहीं सकते, उनके निकट रहना इन्हें इतना प्रिय है, तो फिर अच्छा यह है कि ये दोनों व्रजके निकट रहकर छोटे बछड़ोंको चराया करें।'

श्रीकृष्णचन्द्रको मनोवाञ्छित प्राप्त हो गया। बस, इतना ही विलम्ब है—ज्योतिषी मुहूर्त निश्चित करेंगे, एवं उस दिन महर्षि शाण्डिल्य पधारकर वत्सचारण-महोत्सव सम्पन्न करेंगे।

पुरवासियोंके आनन्दका पार नहीं। राम-श्याम अपनी नित्य नूतन बाल्यभङ्गिमाओंका प्रकाश कर उनका आनन्दवर्द्धन करते आये हैं, अपने मधुर वचन सुना-सुनाकर प्रत्येकका मनहरण करते रहे हैं। परमानन्दमें विभोर पुरवासियोंको तो यह अनुसंधान ही नहीं था कि नीलमणि क्रमशः बढ़कर इस योग्य बन गये हैं। व्रजेश्वरका निर्णय सुनकर उनकी स्मृति जागी और उन्होंने अनुभव किया कि राम-श्यामको वत्सपालक बना देना सर्वथा उचित है। गोचारण, वत्सचारण तो गोपजातिका स्वधर्म है। सबके जीवन-सर्वस्व नीलमणिसे यदि व्रजेश्वर स्वधर्मका आचरण करवायें तो इसका समर्थन कौन नहीं करे, सबने एक स्वरसे इस योजनाका स्वागत किया। राम-श्यामके वत्सपाल बननेकी तैयारी आरम्भ हुई। अस्तु, मुहूर्त कभी निकले, पुरवासी तो अपने कल्पनाके नेत्रोंसे नीलमणिको वत्सचारण करते हुए अभीसे देखने लग गये—

एवं व्रजौकसां प्रीतिं यच्छन्तौ बालचेष्टितैः।
कलवाक्यैः स्वकालेन वत्सपालौ बभूवतुः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ३७)

उन्हें इस क्षणसे ही दीख रहा है—वह देखो! विचित्र-भूषण-वसन-विभूषित असंख्य गोपशिशु हैं, बलराम हैं, नहीं-नहीं सौन्दर्यसरितामें इतनी लहरें उठकर घनीभूत हो गयी हैं। और वहाँ देखो, इन सबके नायक नन्दनन्दनको। अहा! वहाँ तो कोटिचन्द्र एकत्र एक साथ सुधाकी वर्षा कर रहे हैं!

बल समेत सिसु सब अभिराम। कंचन-भूषन कंचन-दाम॥
तिन मधि अधिनाइक जु नंद कौ। बरषत अमी जु कोटि चंद कौ॥

श्रीनन्दनन्दनका वत्सचारण-महोत्सव तथा अन्यान्य गोपबालकोंके साथ बलराम-श्यामका वत्सचारणके लिये पहली बार वनकी ओर प्रस्थान तथा वनमें सबके साथ छाकें आरोगना

ब्राह्ममुहूर्त आरम्भ होते ही व्रजपुरका, वृन्दावनका आकाश विविध मङ्गलवाद्योंकी ध्वनिसे, आभीरसुन्दरियोंके मङ्गलगानसे परिपूर्ण होने लग गया। आज यशोदाके नीलमणि वत्सचारण जो प्रारम्भ करेंगे। गोप, गोप-सुन्दरियाँ, वयस्क गोपशिशु—सभी प्रायः समस्त रात्रि जागते रहे हैं। व्रजेश्वरने, व्रजरानीने भी विश्राम नहीं किया। प्रत्येक प्रासादको, तोरण, गृहद्वार, वीथीको सजानेमें पुरवासी तन्मय थे, व्रजेश निरीक्षणमें व्यस्त थे और व्रजरानीके लिये तो जागना आवश्यक हो गया था; क्योंकि उनके नीलमणि रह-रहकर नेत्र खोल देते, शय्यापर उठ बैठते। नीलमणिको प्रतीत होता—प्रभात हो गया है, अब शीघ्र गोवत्सोंको लेकर वनकी ओर चल देना है। उत्साहवश कभी-कभी तो शयनागारसे भाग छूटनेका प्रयत्न करते। जननी किसी प्रकार समझा-बुझाकर पुनः सुला पातीं। इस अवस्थामें जननी निद्रित कैसे हों? और अब तो बाजे बजने लगे हैं; फिर श्रीकृष्णचन्द्र धैर्य रख सकें, यह तो असम्भव है। मैयाने द्वार बंद कर लिये थे, कपाटके ऊपरकी साँकल लगा दी थी; अन्यथा श्रीकृष्णचन्द्र शय्यासे कूदकर ऐसे भागे थे कि अतिशय सावधान रहनेपर भी यशोदा मैया उन्हें एक बार तो नहीं ही पकड़ पातीं। द्वार रुद्ध है, नन्हे-से नीलमणिके लिये उस साँकलको छू लेना सम्भव नहीं है, इसीलिये मैयाने द्वारपर आते ही उन्हें पकड़ लिया है, नहीं तो, कहीं गोष्ठमें जाकर ही मैया नीलमणिके दर्शन पातीं। जो हो, जननी अनेकों भुलावे देकर श्रीकृष्णचन्द्रको जैसे-तैसे कुछ देर और रोक सकीं। जब बलराम आ गये, कुछ वयस्क गोपशिशु भी आ पहुँचे, तब उनके संरक्षणमें पुत्रको सौंपकर वत्सचारणमहोत्सवकी व्यवस्थामें योगदान करने मैया स्वयं भी चल पड़ीं।

स्वर्णिम रविरश्मियोंके आलोकमें पुरीकी शोभा देखने ही योग्य है। कदलीस्तम्भ, द्वार-द्वारपर स्वर्णके मङ्गलघट, ध्वजा, पताका, बंदनवार, पुष्पवितान आदिसे कलामर्मज्ञ गोपोंने मानो एक नवीन पल्लव-पुष्पमय पुरकी रचना कर दी हो। शोभा देखकर व्रजरानीको स्वयं आश्चर्य हो रहा है कि केवल चार प्रहरमें ही गोपोंने पुरीकी आकृति ही बदल दी है। इससे पूर्व बृहद्वनका व्रजपुर न जाने कितनी बार सज्जित हुआ है। मैया प्रसूतिगृहमें थीं, नीलमणिका जन्म हुआ था, उस समय भी पुरी सजी थी। नीलमणिके अन्नप्राशनके दिन भी व्रजेश्वरने एक चमत्कार मूर्त किया था। वर्षगाँठके अवसरपर भी गोपोंने गोकुल सजाया था। पर आज वत्सचारणमहोत्सवके समयकी शोभा तो कुछ और ही है। मैयाका रोम-रोम उल्लाससे भर जाता है। अवश्य ही मैयाको अब पुरशोभानिरीक्षणका अवकाश नहीं रहा है। मङ्गलगान करती हुई, विविध वेष-भूषासे सज्जित, हाथमें मङ्गलद्रव्यपूरित थाल लिये दल-की-दल गोपसुन्दरियाँ नन्दभवनकी ओर आ रही हैं, और अभी उन्होंने अपने नीलमणिका शृङ्गार भी नहीं किया है। करतीं कैसे? उमंगमें भरे श्रीकृष्णचन्द्र दाऊ एवं गोपशिशुओंके साथ न जाने कहाँ-से-कहाँ फुदकते फिर रहे थे। वत्सचारणके सम्बन्धमें न जाने क्या-क्या मन्त्रणा कर रहे थे। परिचारिकाएँ उन्हें बड़ी कठिनतासे ढूँढ़कर अब ले आयी हैं। अतः मैयाको सर्वप्रथम नीलमणिका शृङ्गार करना है और इसीलिये वे नीलमणिका हाथ पकड़े शीघ्र ही अन्तःपुरमें प्रविष्ट हो गयीं।

श्रीरोहिणीजी बलरामको सजाने लगीं और यशोदा मैया नीलमणिको। बलरामने तो देखते-ही-देखते जननीके धराये शृङ्गारको धारण कर लिया। पर

नीलमणि इतने सहजमें वस्त्राभूषण धारण कर लें, यह कैसे हो? फिर भी अन्य दिनोंकी अपेक्षा आज उन्होंने कम चञ्चलताका प्रकाश किया। उन्हें वन जानेकी त्वरा अवश्य है; पर साथ ही वे जानते हैं कि बिना शृङ्गार धराये मैया जाने नहीं देंगी। इसीलिये जननीको आज मनमाना शृङ्गार धरानेका प्रथम अवसर मिला है। अपने असीम-वात्सल्यपूरित करोंसे व्रजरानीने पुत्रके महामरकतश्यामल अङ्गोंमें उबटन लगाया, उष्णवारिसे स्नान कराया, अङ्ग-परिमार्जन किया तथा फिर वस्त्र-आभूषण धारण कराने लगीं। शृङ्गार पूरा होते-न-होते नीलमणिका भुवनमोहन सौन्दर्य निहारकर मैया भ्रान्त होने लगीं। कहाँ क्या धारण कराना है, यह ज्ञान खो बैठीं और अवशिष्ट शृङ्गारमें प्रमाद करने लगीं। यह देखकर श्रीरोहिणीके नेत्र प्रेमवश छलछल करने लगे। पर अब विलम्ब जो हो रहा है। इसलिये जननीके हाथसे लेकर शेष आभूषणोंको उन्होंने स्वयं धारण करा दिया।

जननी पुत्रके मुखचन्द्रसे झरती हुई सौन्दर्य-सुधाका पानकर तन्मय हो रही थीं, पर सहसा उनके वात्सल्यसिन्धुमें एक आवर्त उठा और वे ऊपर उठ आयीं। जननीको आशङ्का हुई—मेरा नीलमणि नित्य नव सुन्दर है, क्षण-क्षणमें इसका लावण्य परिवर्द्धित होता है और आज इसे मैंने इतने शृङ्गार धराये हैं; कदाचित् किसीकी दृष्टि लग गयी तो?' जननीने अविलम्ब सुकोमल तूलिकाको काजलसे भर लिया और नीलमणिके विशाल भालपर काजलकी टेढ़ी रेखा खींच दी। फिर भी जननीके हृदयका स्पन्दन शान्त नहीं हुआ। 'काजलका यह दिठौना सभी दृष्टिदोषके लिये पर्याप्त नहीं, असुरोंकी कराल दृष्टिमें इस बिन्दुका मूल्य ही क्या है?'—जननी आकुल प्राणोंसे मन-ही-मन अपने प्राणसारसर्वस्व नीलमणिकी रक्षाके लिये श्रीनारायणदेवसे प्रार्थना करने लगीं, सर्वभयहारी तो एकमात्र श्रीनारायण ही हैं—

बत्स चरावन जात कन्हैया।
उबटि अंग, अन्हवाय लाल कौं, फूली फिरत मगन मन मैया॥
निज कर करि सिंगार बिबिध बिधि, काजल-रेख भालपर दीन्ही।
दीठि लागिबेके डर जसुमति इष्टदेव सौं बिनती कीन्ही॥

अबतक नन्दभवनका प्राङ्गण गोप-गोपियोंसे पूर्ण हो चुका है। महर्षि शाण्डिल्य एवं अन्यान्य ब्राह्मणगण भी पधार गये हैं। पूजनवेदिकाके समीप व्रजेन्द्र भी श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रतीक्षा-सी कर रहे हैं। कुछ क्षण पूर्व व्रजेश पुत्रका शृङ्गार होते देख आये हैं और देख आये हैं व्रजरानीकी विह्वल दशा। श्रीकृष्णचन्द्रकी वह अप्रतिम झाँकी, जननीका वह प्रेमावेश, व्रजेशके नेत्रोंमें, मनमें प्रविष्ट हो गया है। वास्तवमें इनके अतिरिक्त उन्हें इस समय और कुछ भी भान नहीं है। कदाचित् व्यवस्थाका भार उपनन्दजीपर नहीं होता, वे व्रजेशके समीप इस समय नहीं होते तो फिर व्रजेश्वरके द्वारा तो पूजन आदि कर्म होनेसे रहे। रह-रहकर उनके नेत्र भर आते हैं, स्वेद, कम्प आदि प्रेमविकार भी अङ्गोंमें व्यक्त होने लगे हैं; किंतु मैया इसी समय श्रीकृष्णचन्द्रको, बलरामको सजाकर, भोजनसे परितृप्तकर साथ लिये वेदीके समीप आ जाती हैं। तुमुल आनन्द-कोलाहलसे प्रासाद मुखरित होने लगता है। बस, इसीने व्रजेन्द्रकी रक्षा कर ली, अथवा अचिन्त्यलीला-महाशक्तिने ही समयोचित कर्मके लिये व्रजेश्वरको जगा दिया, भावके प्रखर प्रवाहको शिथिल कर दिया; नहीं तो प्रेमविवश व्रजराज सचमुच मूर्च्छित होकर गिर पड़ते।

पूजन आरम्भ हुआ। कलश-स्थापन आदि हुए। यज्ञके यजमान महाराज नन्दके हाथोंसे ही कर्म सम्पन्न होने लगे। पर हो रहे हैं यन्त्र-परिचालित-से; क्योंकि व्रजेश कलशमें पञ्चरत्न निक्षेप कर रहे हैं, उस समय भी उन हीरक, माणिक्य, वैदूर्य, पुष्पराग, इन्द्रनील रत्नोंमें उन्हें अपने पुत्रकी छवि अङ्कित प्रतीत होती है। वे धान्यपूर्ण पात्र कलशपर स्थापित अवश्य कर देते हैं, पर उस पात्रमें उन्हें यशोदा रानीके शृङ्गारसे सज्जित श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रतिच्छायाके ही दर्शन होते हैं। अर्घ्यस्थापन भी उन्होंने किया, पर अर्घ्यपात्रमें भी उन्हें श्रीकृष्णचन्द्र ही समाये हुए प्रतीत हुए। विशेषतः

जब पुण्याहवाचनके लिये ब्राह्मणवरणका अवसर आया तथा फिर '**भो ब्राह्मणाः! मम गृहे पुण्याहं भवन्तो ब्रुवन्तु**'* आदि कहनेकी बारी आयी, उस समय तो व्रजेशके होंठोंपर केवल स्पन्दनमात्र हुआ। अवश्य ही महर्षि शाण्डिल्यके कर्णरन्ध्रोंमें मानो किसीने उसी क्षण अमृतसिञ्चन कर दिया। उन्हें स्पष्ट प्रतीत हुआ—व्रजेशके ओष्ठस्पन्दनके अन्तरालसे वीणाविनिन्दित स्वरमें श्रीकृष्णचन्द्र ही यजमानकी इस क्रियाको सम्पन्न कर रहे हैं—वही मधुस्यन्दी स्वर है, वैसी ही मधुरातिमधुर झंकृति है। फिर तो जो दशा यजमानकी थी, वही याजक महर्षिकी भी हुई। अग्रिम मन्त्रपाठ आदि सब कुछ यथाविधि महर्षिने किये अवश्य, पर किये यन्त्रवत् ही। उनके नेत्र-मन-प्राणोंमें भी व्रजराजमहिषीके शृङ्गारसे विभूषित श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त और कुछ रहा ही नहीं। जिस समय वे बलराम एवं श्रीकृष्णचन्द्रके भालपर अपने शुभ हस्तोंसे कुङ्कुमतिलक लगाने चले, उस समय तो यह स्पष्ट ही हो गया—महर्षि किसी दिव्यातिदिव्य आवेशसे अभिभूत हैं। जो हो, पूजन, पुण्याहवाचन आदि कर्म साङ्गोपाङ्ग पूर्ण हुए तथा व्रजराज आजके इस पुण्यमय शुभ दिन, शुभ मुहूर्तमें राम-श्यामके द्वारा वत्सपालन-कार्यका श्रीगणेश करवाने चले—

पुण्यदिनमवधार्य पुण्याहवाचनादिकमपि संचार्य ताभ्यां गोबालपालनारम्भमाचारयाम्बभूव।

(श्रीगोपालचम्पूः)

किंतु अभी तो महोत्सवका अर्द्धांश ही सम्पन्न हुआ है। अभी तो महर्षिको अगणित गोपशिशुओंके तिलक करने हैं। गण्यमान्य पुरवासी गोपोंने निश्चय कर लिया था, व्रजेशपुत्रके वत्सचारणमहोत्सवके दिन ही समवयस्क अपने पुत्रोंको भी वत्सपाल बना देना है। सबका एक साथ सम्मिलित महामहोत्सव होगा। महर्षि शाण्डिल्यके वरद हस्तसे तिलक करानेका सौभाग्य सहजमें प्राप्त नहीं होता। गोपमण्डलके इस विचारका अनुमोदन व्रजेशने भी आन्तरिक प्रसन्नतासे किया था। अतः ज्यों ही राम-श्यामके तिलककी क्रिया सम्पन्न हुई, वैसे ही गोपशिशुओंकी श्रेणी लग गयी। महर्षि योजनासे अवगत हैं ही। व्रजेश्वर आज केवल अपने महोत्सवके ही यजमान नहीं, अपितु समस्त व्रजगोपोंका प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। यह ध्यानमें रखकर ही उन्होंने समस्त देवपूजादि कर्म करवाये थे। अब शेष कार्य भी सम्पन्न करने चले, क्रमशः गोपशिशुओंको तिलक लगाने लगे। प्रत्येक गोपबालकका स्पर्श महर्षिको परमानन्दमें निमग्न कर दे रहा है। बालकोंके अभिभावकोंके आनन्दका तो कहना ही क्या है। उत्सव मनाकर, परमानन्दमें निमग्न होकर उन्होंने अपने पुत्रोंको भी राम-श्यामके साथ ही वत्सपाल जो बना लिया!—

ताभ्यामेव सह महागोपाला यहं विधाय मनसि च सुखं निधाय निजनिजबालान् वत्सपालान् कलयामासुः।

(श्रीगोपालचम्पूः)

आज दान-दक्षिणाका कार्य व्रजेश्वर नहीं, व्रजरानी कर रही हैं। समागत शत-सहस्र ब्राह्मणोंको व्रजेश्वरी मुक्तहस्त होकर स्वर्णदान दे रही हैं और प्रत्येकसे अञ्जलि बाँधकर अपने नीलमणिके मङ्गलका आशीर्वाद ले रही हैं—

बिप्र बुलाय, दान करि सुबरन, सब की सुखद असीसैं लीन्हीं।

इन सब कार्योंमें दिनका प्रथम प्रहर समाप्त हो जाता है। श्रीकृष्णचन्द्र अब आकर प्राङ्गणमें खड़े हो जाते हैं। अगणित गोपशिशु उन्हें चारों ओरसे घेर लेते हैं। व्रजेश्वर अपने पुत्रके समीप पुनः चले आते हैं। आकर एक छोटी-सी अरुणवर्ण छड़ी पुत्रके सुन्दर करकमलोंमें दे देते हैं। ओह! उस समय सखापरिवेष्टित श्रीकृष्णचन्द्रकी यह शोभा कितनी मनोहर है!

सोहत लाल लकुटि कर राती।
सूथन कटि, चोलना अरुन रँग, पीतांबर की गाती॥
ऐसेहि गोप सबै बनि आए, जो सब स्याम सँगाती॥

व्रजेश्वरकी आज्ञासे आज गोवत्सोंका भी अतिशय

* ब्राह्मणदेव! मेरे घर आप पुण्याहवाचन करें।

सुन्दर शृङ्गार हुआ है। उनपर भी मानो किसी दिव्य आवेशकी छाया पड़ी है। सभी सिर उठाये शान्त होकर नन्दभवनकी ओर ही देख रहे हैं, जैसे अपने नये पालककी प्रतीक्षा कर रहे हों। श्रीकृष्णचन्द्र भी आ ही पहुँचे, एक हाथमें पितृप्रदत्त लकुट एवं दूसरेमें वंशी धारण किये गोवत्सोंकी ओर वे दौड़े आ रहे हैं। उनपर दृष्टि पड़ते ही इन गोवत्सोंमें जो आनन्दकी लहर परिलक्षित हुई, उसे देखकर गोपमण्डली अवाक् रह गयी। कूदनेके अतिरिक्त इन गोशावकोंके पास अन्य साधन नहीं, जो वे अपने आनन्दको व्यक्त कर सकें। इसीलिये वे केवल कूदनेमात्र लगे। पर आज उनका चौकड़ी भरना अद्भुत ही है, सर्वथा विलक्षण है। कुछ रक्षक गोपोंने उन्हें शान्त करनेका प्रयत्न किया, पर सब व्यर्थ। हाँ, जब श्रीकृष्ण उनके मध्यमें आकर खड़े हो गये और अपने नन्हे-से वंशीभूषित हाथको ऊपर उठा लिया, तब फिर प्रत्येक गोवत्स जहाँ-का-तहाँ रहकर ही शान्त हो गया—इस प्रकार मानो अपने इस नवीन पालककी रञ्चकमात्र इच्छाकी भी वह कदापि अवज्ञा नहीं करेगा, इसका प्रमाण दे रहा हो! यह दृश्य निहारकर आनन्दविह्वल गोपमण्डलीके कण्ठसे बरबस निकल पड़ता है—वत्सपाल नन्दलालकी जय हो!

और तो सब कुछ हो गया, केवल दो कार्य अवशिष्ट रहे हैं। श्रीकृष्णचन्द्र समस्त गुरुजनोंके चरणोंमें मस्तक रखकर, प्रत्येकका आशीर्वाद लेकर ही बन जायँगे। और दूसरे, मैयाने निश्चय कर रखा है कि 'गोपकुलकी रीति चाहे न हो; पर नीलमणिके, बलरामके सुकोमल चरणोंमें उपानह् धारण कराये बिना वन भेजना कैसे सम्भव है? मणिमय राजपथ सर्वत्र तो है नहीं, वन्य पगडंडियोंपर ही नीलमणिको चलना है, उपानह्के बिना रेंगनेवाले कीट, कण्टक, क्षुरधारप्रस्तरखण्डोंसे मेरे लालके सुकोमल चरणतलोंकी रक्षा कैसे होगी?' व्रजेश्वरसे परामर्श किये बिना ही उन्होंने दोनोंके लिये अतिशय सुन्दर उपानह् मँगवाकर रख भी लिये हैं। वे तो प्रतीक्षा कर रही हैं, गुरुजनवन्दना हो जानेभरकी देर है, फिर वे स्वयं उपानह् धारण कराने जायँगी! दूसरेको तो कदाचित् वयोवृद्ध गोप रोक दें, पर उन्हें कोई नहीं रोकेगा। अस्तु, व्रजेश्वरका संकेत पाकर श्रीकृष्णचन्द्र गोवत्सोंके बीचसे एक बार पुनः बाहर जाते हैं एवं बाहर आकर—भले ही प्राकृत मन इसे हृदयंगम न कर सके, पर यह सर्वथा सत्य है—देखते-ही-देखते, आधी घड़ी भी पूर्ण होते-न-होते, वे महर्षि शाण्डिल्यसे आरम्भकर शत-सहस्र ब्राह्मणोंके, असंख्य वयोवृद्ध गोप-गोपियोंके चरणोंमें प्रणिपात कर लेते हैं। सबने स्पष्ट अनुभव किया है—यशोदाके नीलमणि आये हैं, उनके चरणोंमें सिर रख दिया है, एक परमसुखमयी तडित्-लहरी-सी उनके अङ्गोंमें व्याप्त हो गयी है, अन्य समस्त अवयव तो निष्पन्द हो गये हैं, वाणी रुद्ध हो गयी है, केवल निर्निमेष नयनोंके पथसे आशीर्वादरूप कुछ शीतल वारिबिन्दु बाहर निकल आये हैं और इस प्रकार प्रत्येक गोप-गोपीने नीलमणिकी वन्दनाका अभिनन्दन किया है। जो हो, तीनकी वन्दना और करनी है—व्रजेशकी, श्रीरोहिणीकी और अपनी जननीकी। यह भी सम्पन्न हुआ। पर इस वन्दनाके समय वात्सल्यरसकी जो शत-सहस्र मन्दाकिनी प्रवाहित हुई, उसे चित्रित करनेकी सामर्थ्य किसीमें भी नहीं। किसी अचिन्त्य शक्तिने ही व्रजेशको, श्रीरोहिणीको, व्रजरानीको तुरंत प्रकृतिस्थ कर दिया; नहीं तो आज अभी जैसी उनकी दशा हुई थी, उसे देखते तो वत्सचारण स्थगित ही रहता!

अब सहसा गोपशिशु एक साथ ही शृङ्गध्वनि कर उठते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रने कल ही कुछ अपनी योजना भी बना ली थी। कैसे क्या-क्या करना है, यह सब कुछ सखामण्डलीने भी स्थिर कर रखा था। उसी योजनाके अनुसार यह शृङ्गध्वनि हुई है। वयस्क गोपोंके आनन्दका पार नहीं रहता। उन्हें प्रतीत हुआ—यह तो परम शुभ शकुन है, अपने-आप ये सब शिशु वत्सचारणकी प्रणालीका अनुसरण कर रहे हैं, यह कितने सौभाग्यकी बात है। पर यशोदारानीका ध्यान इस ओर नहीं, वे तो शृङ्गध्वनि सुनते ही उपानह्

लेकर दौड़ीं और उन्हें श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें धारण कराने लगीं। श्रीकृष्णचन्द्र पहले तो समझ ही नहीं पाये कि मैया क्या करने आ रही हैं; पर जब उपानहोंकी ओर दृष्टि गयी, तब तो वे बड़ी शीघ्रतासे कूदकर अलग खड़े हो गये। जननीने दौड़कर पुनः हाथ पकड़ लिये। पर आज कुछ भी हो, नीलमणि मैयाकी इस मनुहारको तो कदापि स्वीकार नहीं करेंगे। उन्होंने उपानह् धारण करना सर्वथा अस्वीकार कर दिया। यशोदारानी कितनी ही युक्तियाँ दे गयीं, पर श्रीकृष्णचन्द्र सबके उत्तरमें 'नहीं-नहीं' ही करते गये, उपानहोंको वहाँसे हटाकर ही वे शान्त हुए—

कृष्णस्त्वानीते उपानहौ नहि-नहिकारेण अहिश्चकार।

(श्रीगोपालचम्पूः)

मैयाने अन्तिम नीतिका अवलम्बन किया—'कदाचित् बलराम उपानह् धारण कर ले तो नीलमणि भी सम्भवतः बात मान ले।' पर अग्रज एवं अनुजके हृत्तन्त्रीके स्वर भिन्न नहीं होते, मैया इस बातको भूल गयी हैं। श्रीकृष्णचन्द्रके हृद्गत भावोंकी छाया ही रामकी इच्छा है। इस समय अपने अनुजके हृदयका स्पन्दन क्या है, कैसा है—इसे राम अनुभव कर रहे हैं। वे भला उपानह् स्वीकार करेंगे? उन्होंने भी अस्वीकार कर दिया—

ततः कृष्णभावमनुभवता रामेणापि तथानुमतम्।

(श्रीगोपालचम्पूः)

अस्तु, अतिकाल न हो जाय, इसलिये व्रजेश्वरने महर्षिकी ओर देखकर संकेतमें ही कुछ निवेदन किया तथा महर्षिने भी व्रजराजकी प्रार्थनाका अनुमोदन करते हुए शङ्खध्वनि कर दी। जननीने अपने प्राण-सर्वस्व नीलमणिकी, बलरामकी आरती उतारी, व्रजपुरन्ध्रियोंने पुनः मङ्गलगीत आरम्भ किये तथा सबके नेत्रोंको शीतल करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रने वत्सचारणके लिये प्रस्थान किया—

चले हरि बत्स चरावन आज।
मुदित जसोमति करत आरती, साजें सब सुभ साज॥
मंगलगान करत ब्रजबनिता, मोतिन पूरे थाल।
हँसत-हँसावत, बत्स-बाल सँग चले जात गोपाल॥

प्रत्येक द्वारपर ही राम-श्याम रुक रहे हैं। अतिशय आह्लादसे पूर्ण गोपरामाएँ बहुमूल्य राशि-राशि रत्नोंसे उनका निर्मञ्छन कर रही हैं, अतिशय दीप्तिमान् मणियोंसे आरती उतार रही हैं तथा प्रफुल्ल सुरभित कुसुमोंकी वर्षा तो सब ओरसे निरन्तर हो रही है—

प्रत्यागारद्वारं सर्वाभिरनर्घाचीनाभिर्वरवर्णिनीभिर्महाधनैर्निर्मञ्छ्यमानौ दीपायमानमणिभिर्नीराज्यमानौ प्रफुल्लसुरभिप्रसूनैरभिवृष्यमाणौ×××प्रतस्थाते।

(श्रीगोपालचम्पूः)

क्रमशः पुरकी सीमाका अतिक्रमण कर श्रीकृष्णचन्द्र वनकी सीमापर आ जाते हैं। व्रजेश, व्रजरानी एवं समस्त पुरवासी भी उनके साथ आये हैं। पर यदि ये आगे भी साथ ही गये, तब तो श्रीकृष्णचन्द्रकी स्वच्छन्दता कहाँ रही? अतएव नन्दनन्दन यहाँ हठ कर बैठते हैं कि अब इससे आगे गोप, बाबा, मैया आदि कोई भी साथ न जाय, वे केवल सखा-मण्डलीके साथ वनमें वत्सचारण करने जायँगे। सभी निश्चित करके आये थे कि आज श्रीकृष्णचन्द्रको पुरकी सीमासे ही लौटा लेंगे; पर श्रीकृष्णचन्द्रका निश्चय तो उनसे सर्वथा भिन्न है, वे तो आज वनमें अवश्य जायँगे ही। पुत्रके अतिशय आग्रहके सामने व्रजेशको झुकना ही पड़ा। उन्होंने सम्मति दे दी; किंतु मैयाका हृदय तो दुर-दुर कर रहा है। वे जब अपने नीलमणिके सुकोमल चरणसरोजकी ओर देखती हैं तो उनका मन अगणित अनिष्ट आशङ्काओंसे पूर्ण हो जाता है। 'कम-से-कम यह उपानह् ही पहन लेता तो कुछ तो रक्षा होती ही।'—मैयाके हृदयमें पुनः बार-बार इस भावनाका उन्मेष होने लगता है और वे पुनः अपने पुत्रके समीप यह प्रस्ताव रखती हैं। पर नीलमणि टस-से-मस नहीं होते। हारकर मैया बलरामपर ही नीलमणिकी सारी सँभालका भार सौंपती हैं। इतना ही नहीं, अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे बलरामकी ओर देखकर उनके हाथमें वे अपने नीलमणिका हाथ पकड़ा देती हैं। कहाँ, कब, कैसे नीलमणिकी रक्षा करनी चाहिये, इस सम्बन्धमें रोहिणीनन्दनको विविध उपदेश देने लगती हैं—

कर यकराइ, नयन भरि अँसुअन सकल सँभार दाउऐ दीन्ही।

मैयाकी इस आकुलताको छाया मानो गोवत्सोंको स्पर्श करती है, वे जननीकी हृदयवेदनाको जैसे जान गये हों। सचमुच उपनन्दकी समस्याको तो उन्होंने प्रकारान्तरसे हल कर ही दिया। वे पाँच-दस तो हैं नहीं, इतनी अधिक संख्यामें हैं कि उनकी गणना होनी अत्यन्त दुष्कर है और वे कूदते हुए आगे बढ़ रहे हैं, अपने तीक्ष्ण खुरोंसे पृथ्वीको खोदते हुए, वनपथकी रजःकणिकाओंको पीसते हुए जा रहे हैं। उन असंख्य गोशावक-खुरोंके आघातसे वह मृण्मयी रेणुका पुष्प-पराग-जैसी सुकोमल बन गयी है। कंकड़, कण्टक आदि भी चूर्ण-विचूर्ण हो गये हैं। श्रीकृष्णचन्द्र अतिशय सुखपूर्वक उस भूमिपर अपने चरण-निक्षेप कर सकें, ऐसा उसे उन सबने बना डाला है—

दुष्करगणनानि गोधनानि तु नूनं कृततदवधानानि तदानुकूल्याय प्रखरखरखुरखननखुरलीभिर्मृण्मयरेणूनपि पुष्परेणूनिव विधाय शर्कराकण्टकादिकमपि खण्डशस्तथा संधाय तदीयचरणप्रचारभूमिं सुखसंचारतया कारयामासुः।

इसके अतिरिक्त—

जे पद-पदुम सदासिवके धन, सिंधु-सुता उर तैं नहिं टारे।
जे पद-पदुम तात रिस त्रासत, मन-बच-क्रम प्रहलाद सँभारे॥
जे पद-पदुम-परसि-जल पावन सुरसरि-दरस कटत अघ भारे॥

श्रीकृष्णचन्द्रके इन महामहिम चरणसरोजोंका स्पर्श पाकर वसुधा स्वयं नित्य पुलकित होती रहती है। धराकी अधिष्ठात्रीको आज इस समय भी प्रतीत हो रहा है, श्रीकृष्णचन्द्रके चरणसंचारणसे सुधाकी वर्षा हो रही है, उससे उनका अणु-अणु सिक्त हो रहा है। वृन्दाकाननकी अधिदेवी भी, जिस पथसे श्रीकृष्णचन्द्र आयेंगे, जहाँ-जहाँ उनके लीला-विहारकी मन्दाकिनी प्रसरित होगी, उसे सँवारनेमें स्वयं व्यस्त हैं, अपने कोषकी समस्त सम्पदा देकर वे धराको सहयोग दान कर रही हैं। व्रजेन्द्रनन्दनके सुकोमल चरण स्थापित होने योग्य रूप तो भूमि अपने-आप धारण कर रही है, अवशिष्ट आवश्यक शृङ्गारसे स्वयं विभूषित होती जा रही है—

वसुधा च सुधासेकमेव तदीयचरणसंचारणेन मन्वाना वृन्दया सह च योगं तन्वाना तदानुकूल्यावशेषं निरवशेषं चकार। (श्रीगोपालचम्पूः)

अस्तु, अभी भी अपने बाबाको, जननीको अनुगमन करते देख श्रीकृष्णचन्द्र उनसे लौटनेका आग्रह करते हैं—बाबा! अब आगे मत जाओ। मैया! देख, तू कितनी दूर आ गयी, अब लौट जा। सचमुच तू विश्वास कर ले, हम सबको वत्सचारण करना आता है; किसी प्रकारकी आशङ्का तुम सब मत करो।'—इस प्रकार अपने मधुकण्ठसे व्रजदम्पतिको आप्यायित करते हुए उन्हें वहींसे लौटा देनेके लिये वे तुल गये। पुत्रके इस प्रेमिल आग्रहके सामने नन्ददम्पतिकी एक नहीं चलती। वे लौटना स्वीकार कर लेते हैं, पर लौटनेसे पूर्व वात्सल्यकी सरस धारा बहाते हुए दोनों अपने पुत्रको न जाने कितनी शिक्षा दे जाते हैं। शिक्षाका सारांश इतना ही है—'मेरे लाल! दूर मत जाना। बस, यहीं आगेकी इस हरित तृणसंकुल भूमिपर ही आज वत्सचारण कर लेना। विलम्ब मत करना, भला! शीघ्र घर लौट आना।' इस प्रकार पुत्रको समझा-बुझाकर व्रजेश्वर-व्रजरानी—दोनों लौटे तो अवश्य, पर अपने मन-प्राण आदि सब कुछ वहीं नीलमणिके पास ही रख आये। वास्तवमें उनका शरीरमात्र ही लौटा, मन-प्राणकी छायामात्र शरीरके साथ लौटी। दोनोंको नेत्रोंसे स्पष्ट दीख रहा है—राम-श्याम सखाओंके साथ खेलते हुए गोवत्सोंका संचालन कर रहे हैं। सचमुच प्रथम दिन ही श्रीकृष्णचन्द्रका वत्सचारण ठीक ऐसा होता है, जैसे वे इसके चिर-अभ्यस्त हों—

एवमनुयान्तं पितरमनुयान्तीं च मातरं विलोक्य निवर्तेतां भवन्तौ वयमत्राभियुक्ता नात्र शङ्का करणीयेति वदति तनये मा दूरं गाः इत एवाद्य चारयस्व वत्सान् मा विलम्बश्च कार्यः शीघ्रमेवागन्तव्यमिति च ब्रुवाणौ पितरावथ निवर्त्य सबलः सबालसहचरः सकौतुकमेव प्रथमेऽहनि कृताभ्यास इव वत्सान् चारयामास।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

श्रीकृष्णचन्द्रकी साध पूरी हुई। गोवत्सोंके साथ न जाने उन्होंने कितने कौतुक किये, उन्हें अपने

योगीन्द्रमुनीन्द्रदुर्लभ स्पर्शसुखके दानसे परम सुखी बनाकर कितनी-कितनी क्रीडाएँ कीं। कभी तो वे गोवत्सोंका मुख-चुम्बन करते और कभी हरित सुकोमल दूब अपने श्रीहस्तोंसे तोड़-तोड़कर उन्हें खिलाते। किसी गोवत्सको अपनी अञ्जलिसे जल पिलाते। किसीके लिये अपना पीताम्बर आर्द्र कर उसे उसके मुखमें निचोड़ते। इन अगणित मनोहारिणी लीलाओंको देख-देखकर अन्तरिक्षमें अवस्थित देववृन्द विस्मित हो रहे हैं। वे नहीं जानते, सर्वथा प्राकृत शिशुकी भाँति इन मोहिनी लीलाओंके अन्तरालमें अनन्तैश्वर्यनिकेतन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी कौन-सी गूढ़ अभिसंधि संनिहित है। जान सकते भी नहीं। जगत्‌में ऐसा कोई भी नहीं, जो नराकृति परब्रह्मकी इन लीलाओंका मर्म जान ले। वे इनकी ओटमें क्यों कब क्या करना चाहते हैं, इसे कोई नहीं जानता—

न वेद कश्चिद्भगवंश्चिकीर्षितं तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम्॥

(श्रीमद्भा० १। ८। २९)

अस्तु, रह-रहकर आकाशमें देववाद्य बज उठते हैं। 'बाल्यलीलाविहारिन्! श्रीकृष्णचन्द्र! जय! जय!' का उन्मादी नाद गूँज उठता है। गोपबालक चकित-चित्त होकर आकाशकी ओर देखते हैं, पर उन्हें कुछ भी दीखता नहीं। पर अब तो उन्हें भोजन करना है, मैयाकी भेजी हुई छाक आ गयी है। श्रीकृष्णचन्द्र फूले नहीं समाते। आज उन्हें यह प्रथम अवसर मिला है कि इतने सखाओंके साथ बैठकर, परम स्वतन्त्र होकर वे वनमें भोजन करें। उनके सुखकी सीमा नहीं रहती। बछड़ोंको हरी दूबपर छोड़कर श्रीकृष्णचन्द्र सखामण्डलीके साथ भोजन करने बैठते हैं। शिशुओंके तुमुल आनन्द-कोलाहलसे वन प्रतिनादित होने लगता है।

भोजन हुआ, किञ्चित् विश्राम भी हुआ, अनन्तर मोहनवंशीके छिद्रोंसे रसकी वर्षा आरम्भ हुई। स्वरलहरीकी तालपर गोपबालक नृत्य करने लगे, साथ ही वे असंख्य गोवत्स भी झूमने लगे और निष्पन्द हो गये समस्त वनविहंगम, कपिवृन्द, मृगयूथ। यदि दिन बहुत अधिक ढल नहीं गया होता तो न जाने इस रससरिताके प्रवाहमें गोपशिशुओंकी क्या दशा होती! पर अब शीघ्र व्रजमें लौटना है, इसीलिये स्वरलहरीका क्षणिक विराम हो गया।

गोवत्सोंको एकत्र कर श्रीकृष्णचन्द्र व्रजपुरकी ओर लौट चले—इस प्रकार, मानो एक अनन्त पारावारविहीन सौन्दर्य-सिन्धु उमड़ा आ रहा हो, शोभासिन्धुके अधिदेवता ही श्यामसुन्दरमें समाये स्वयं आ रहे हों, उन परम सुन्दर अधिदेवको अनंत असंख्य सुन्दर लीला-लहरियाँ घेरे आ रही हों, उनके अधरपुटपर सुन्दर रसमय वाणीकी लहरें हों, सुन्दर कपोलोंपर लावण्यकी लहर हो, सुन्दर वक्षःस्थलपर वनमालाकी उज्ज्वल लहरें नाच रही हों, सुन्दर चरणोंके समीप अरुणिम लहरें उठ रही हों, सुन्दर नखावलिपर उज्ज्वल लहरोंकी आभा फैली हो, सुन्दर कर्ण-युगलपर पीतकुण्डलकी लहर हो, सुन्दर नयनोंकी लहरी अतिशय चञ्चल हो, सुन्दर ग्रीवाके समीप लहरें वङ्किम हो गयी हों, सुन्दर विशाल भुजाको सुपुष्ट श्याम लहरें आवृत कर रही हों; सस्मित मुखपर सुन्दर बाँसुरीकी छाया लिये मधुमय स्वरकी लहरें खेल रही हों, सुन्दर गोपवेषमें सज्जित हुए इन अधिदेवके समस्त अङ्गोंमें ही उन्मादी लहरें उठ रही हों, उनके साथ ही इनका धाम भी मूर्त हुआ, अग्रज रोहिणीनन्दनमें समाया हुआ आ रहा हो! यह राम-श्यामकी सुन्दर जोड़ी नहीं—यह तो सौन्दर्यके अधिष्ठातृदेव ही सदलबल, सुन्दर चालसे चलते हुए व्रजको प्लावित करने आ रहे हैं—

सुंदर स्याम, सुँदर बर लीला, सुंदर बोलत बचन रसाल।
सुंदर चारु कपोल बिराजत, सुंदर उर जु बनी बनमाल॥
सुंदर चरन सुँदर हैं नखमनि, सुंदर कुंडल हेम-जराल।
सुंदर मोहन नैन चपल किए, सुंदर ग्रीवा, बाहु बिसाल॥
सुंदर मुरली मधुर बजावत, सुंदर हैं, मोहन गोपाल।
सूरदास जोरी अति राजति ब्रज कौं आवत सुंदर चाल॥

दैनिक वत्सचारण-लीलाका वर्णन

अब तो श्रीकृष्णचन्द्र प्रतिदिन ही वत्सचारण करने जाते हैं। उनके महामरकतश्यामल सुकुमार श्रीअङ्गोंके अन्तरालसे प्रतिदिन ही एक अभिनव ओजकी धारा प्रस्फुटित होती है, दिन-पर-दिन वयसोचित मेधाका भी सुन्दर विकास होता जा रहा है, मनके उल्लासकी तो सीमा ही नहीं रही है और जब इस अपरिसीम उल्लासकी लहरियाँ वत्सचारणलीलाको सिक्त करने लगती हैं, उल्लासके आवेशमें यशोदाके नीलसुन्दर गोवत्सोंसे आवृत होकर अपनी परम रमणीय बाल्य-भङ्गिमाओंका प्रकाश करने लगते हैं, उस समय वृन्दाकाननके चर-अचर, स्थावर-जंगम समस्त अधिवासियोंकी दशा देखने ही योग्य होती है। सभी एक साथ ही किसी अनिर्वचनीय परमानन्दसिन्धुके अतल तलमें समा जाते हैं। ऊपर आकाशमें सुर-समुदाय आनन्द-मूर्च्छित हो जाता है; उनकी चिरसङ्गिनी सुरवनिताएँ आनन्दविवश होकर बाह्यचेतनाशून्य हो जाती हैं; अमरविमान नीचेकी ओर ढुलककर गिरने लग जाते हैं, कदाचित् श्रीकृष्णकी अचिन्त्यलीलामहाशक्ति सबका नियन्त्रण न करती होती, विशुद्ध सख्यरसभावित गोपशिशुओंके साथ श्रीकृष्णचन्द्रके इस निराविल आनन्दविहारमें व्याघात न हो जाय—इस उद्देश्यसे लीलाशक्ति अपने अदृश्य अञ्चलकी छोरपर इन विमान-पंक्तियोंको थाम न लेती तो सभी धरातलका स्पर्श करते होते। और इधर पुरवासी—इनका तो कहना ही क्या है। निर्निमेष नयन, स्पन्दनहीन अवयव, जो जहाँ जैसे अवस्थित है, वह वहाँ वैसे ही रह जाता है। सबके प्राण रुद्ध हैं, बस वहाँ, उसी स्थलपर—जहाँ श्रीकृष्णचन्द्र हैं, अग्रज बलराम हैं, श्यामसुन्दरके सहचर गोपशिशु हैं। व्रजदम्पतिकी समस्त वृत्तियाँ भी सिमटकर आ जाती हैं यहीं अपने इस अनोखे वत्सपालके सस्मित मुखकमलपर, वे भी केवल इतना ही देख पाती हैं—उनके नीलमणि राम एवं गोपबालकोंसे परिवृत रहकर गोवत्सोंके साथ विविध विचित्र क्रीड़ामें संलग्न हैं, और यह देख-देखकर नन्दरायके, नन्दरानीके प्रत्येक रोमसे आनन्दनिर्झर झरने लग जाता है तथा व्रजकी धराका आनन्दोच्छ्वास भी प्रत्यक्ष हो जाता है। न जाने कितनी बार पावसकी श्याम घटाएँ उसके वक्षःस्थलका अभिषेक कर जाती थीं, पर फिर भी ग्रीष्म आता और उसकी मुखश्री झुलस जाती; किंतु अब, जबसे नवजलधरसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र व्रजमें आये हैं, तबसे धराकी हरितिमाका कभी ह्रास नहीं हुआ। तबसे प्रतिदिन ही व्रजकी धरापर कृष्णमेघकी स्निग्ध धारा प्रवाहित होती है, श्यामसुन्दरकी स्निग्ध अमल अङ्गकान्तिसे धरा नित्य श्यामलित रहती है और इस समय वत्सचारण करते हुए, गोशावकोंके मध्यमें विविध क्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रकी अङ्गच्छटा तो सर्वथा अप्रतिम हो जाती है, धराका अणु-अणु इस छटाकी छायासे श्यामसय हो जाता है, कण-कणमें नव-नव सुकोमलतम तृणाङ्कुर उदय हो जाते हैं, धराका आन्तरिक आह्लाद व्यक्त हो जाता है—इस प्रकार समस्त व्रजपुरको सुखसमुद्रमें निमग्न करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रकी वत्सचारणलीला जब कुछ दिन चलती रहती है और वे इस कार्यके लिये पुरवासियोंकी दृष्टिमें सर्वथा कुशल, परम सुदक्ष सिद्ध होते हैं, तब श्रीकृष्णचन्द्रका उत्साह और भी बढ़ता है। अबतक व्रजेश्वरने प्रासादसंलग्न लघुगोष्ठके गोवत्सोंका ही भार श्रीकृष्णचन्द्रको सौंपा है; उसके भी अपरिमित असंख्य गोवत्स अवश्य हैं, पर बृहत् गोष्ठके गोवत्सोंको सम्मिलित किये बिना श्रीकृष्णचन्द्र पूर्णरूपसे वत्सपाल जो नहीं हुए। अतएव श्रीकृष्णचन्द्र जनक-जननीके समक्ष, पुरवासियोंके समक्ष, अपनी योग्यताकी परीक्षा

देकर उसमें पूर्णरूपसे सफल होकर, सबकी सम्मति पाकर अब बृहत् गोष्ठके भी समस्त गोवत्सोंको चरानेके लिये अतिशय उत्कण्ठित हो उठते हैं—

एवमहरहरहृतविक्रमः क्रमसमेधमानसमेधमानसोल्लासतया तया वत्सचारणखेलया खेलयारूढमनसः प्रसृमरानमराननवरतवरतनुसहितान् स हि तान् प्रमोदयन्मोदयन्नपि व्रजवासिनः सह सहचरैर्बलभद्रेण च भद्रेण चरितवैचित्र्येण जननीजनकयोरानन्दं मुहुस्तन्वानस्तन्वा नवघनघटाश्यामलधामलया व्रजभुवं च श्यामलयन् यदि तस्यामेव लीलायां कुशलो बभूव तदा यावन्तो वत्सास्तावतामेव चारणाय पर्युत्सुक आसीत्। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

व्रजराजकी अनुमति मिलनेमें अब विलम्ब ही क्या था; श्रीकृष्णचन्द्र समस्त गोवत्सोंके अधिनायक बन गये और त्रिभुवनजनपावनी जननी यशोदाकी प्रातश्चर्या यह बनी—किरणमालीकी स्वर्णिम किरणें व्रजपुरको रञ्जित करने आतीं, उससे पूर्व ही मैया अपने नीलमणिके शयनपर्यङ्कपर पुनः आ विराजतीं। व्रजराजमहिषी परिचित हैं अपने समस्त पुरवासियोंके स्वभावसे। उनके नीलमणिका दर्शन पानेके लिये गोपसुन्दरियोंके प्राणोंमें कितनी आतुरता है, व्रजरानीसे अब छिपा नहीं रहा है। निशाका अवसान होते ही गोपसुन्दरियाँ कोई-न-कोई बहाना लेकर आने लगती हैं और तबसे रात्रि आरम्भ होनेतक—जबतक श्रीकृष्णचन्द्र नन्दभवनमें विराज रहे हैं, तबतक उनका क्रम नहीं टूटता। विशाल व्रजपुर है, असंख्य गोपसुन्दरियाँ हैं और बहानोंका ही क्या अभाव है। कोई प्रातःकाल ही राम-श्यामके लिये निमन्त्रण लेकर आती है, व्रजरानी स्वीकार करें या न करें, कोई-न-कोई प्रतिदिन प्रस्ताव लायेगी ही—

जसोदा एक बोल जो पाऊँ।
राम कृष्ण दोउ तुम्हरे सुत कौं सखन समेत जिमाऊँ॥
जो तुम नंदराय सौं सकुचौ, तौ हौं उन्हैं सुनाऊँ।
जो पै आज्ञा देहु कृपा करि, भोजन-ठाउ बनाऊँ॥

आजसे नहीं, प्रसूतिगृहमें थीं तबसे व्रजरानी देख रही हैं—गोपसुन्दरियोंके प्राण उनके नीलमणिमें ही समाये रहते हैं और वे घूम-फिरकर नन्दभवनकी ही परिक्रमा करती रहती हैं। नीलमणि जब पालने झूलने लगे, गोपसुन्दरियोंके तालबन्धपर नृत्य करने लगे, उस समय गोपसुन्दरियाँ आतीं एवं व्रजेश्वरीके चरणोंमें अपने आकुल प्राणोंकी अभिलाषा निवेदन करतीं—

यह नित नेम जसोदा जू मैं तिहारौ लाल लड़ावन कौ।
प्रात समय उठ पलना झुलाऊँ, सकट-भंजन-जस गावन कौ॥
नाचत कृष्ण, नचावत गोपी, कर करताल बजावन कौ।
आसकरन प्रभु मोहन नागर निरखि बदन सचु पावन कौ॥

यह सुनकर व्रजरानीके नेत्र छलक उठते, 'बहिनो! नीलमणि तो तुम सबोंका ही है' कहकर उनकी गोदमें वे नीलमणिको रख देतीं और उनका मनोरथ पूर्ण होता। मैया यहाँकी रीतिसे परिचित हैं, उन्होंने देख लिया है, जो एक बार नन्दभवनमें आया है, उसने अपने मन, प्राण, सब कुछ नीलमणिको समर्पित कर दिये हैं—

ब्रज की रीति अनोखी री माई।
जो कोउ नंदभवन में आवत, ताकौ मन हरि लेत कन्हाई॥

न जाने कितनी बार संध्या-समय जननी यशोदाके भवनमें गोपसुन्दरियाँ आयी हैं अपना दीप प्रज्वालन करने, मानो उनके घर दीप प्रज्वलित करनेके साधन नहीं हों। इतना ही नहीं, दीप जलाकर वे बाहर गयी हैं और अपने मुखश्वाससे ही उस दीपको निर्वापितकर पुनः नन्दभवनमें लौट आयी हैं। जैसे हो, जिस मिससे हो, उनके नेत्रोंको नीलमणिके दर्शन होते रहें—इतना ही उन्हें अभिप्रेत है। नीलमणि उनके पलककी ओट हुए कि उनके प्राण हाहाकार कर उठते हैं—

घर नंद महर कें मिस-ही-मिस आवैं गोकुल की नारि।
सुंदर बदन बिन देखे कल न परत,
भूल्यौ धाम-काम आछौ बदन निहारि॥
दीपक लै चली बारि, बाट में बढ़ी कर डारि,
फिरि आवै छबि सो बयार देत गारि।

नंददास नंदलाल सौं लागे नयन,
पलक की ओट मानौं बीते जुग चारि॥

और न सही, नन्दसदनकी भित्तियोंपर, स्तम्भोंपर, गवाक्षमालाओंपर कितने सुन्दर मनोहारी चित्र अङ्कित हैं, उनकी शोभा देखनेके बहाने ही गोपसुन्दरियाँ एकत्र खड़ी रहती हैं। वे चित्रोंकी प्रंशसा करती हैं, पर नेत्र झुके रहते हैं भोजन करते हुए नन्दनन्दनकी ओर—

चित्र सराहत चितवत मुरि मुरि गोपी बहुत सयानी।

किसीको ब्राह्ममुहूर्तमें ही भ्रम हो जाता है—श्रीकृष्णचन्द्रकी वंशी बज रही है। वे जाग उठे हैं, तभी तो वंशी बजी है! और वह दौड़ पड़ती है नन्दप्राङ्गणकी ओर! वहाँ आकर नीलमणिको सोये सुनकर, वस्तुस्थिति व्रजेश्वरीको समझा देती है, उनसे अनुनय-विनय करने लग जाती है—

मैं जान्यौ, जागे जु कन्हाई, तातैं जसुमति! तेरे घर आई।
मेरे पिछवारें वैसेई सुरन सौं तिनहूँ मधुरी मुरलि बजाई।
जनम सुफल करि, बिनती चित धरि, अपने कारह किन देहु जगाई॥

और अब तो—जबसे वत्सचारण आरम्भ हुआ है—यहाँ व्रजपुरकी, वृन्दावनकी आभीर-सुन्दरियोंका प्रथम कृत्य बन गया है नन्दभवनका दर्शन!—

प्रात समय उठ चलहु नंदगृह, बलराम-कृष्ण-मुख देखिये।
आनँद में दिन जाय, सखी री! जनम सुफल कर लेखिये॥

× × × ×

राम-कृष्ण पुनि बनहिं जायँगे चरन-कमल-रज लीजिये॥

व्रजरानीको यह सब ज्ञात है। पुरसुन्दरियोंका नीलमणिके प्रति यह प्रेमिल भाव देखकर उनका अन्तःकरण क्षण-क्षणमें आर्द्र हो उठता है। वे सबके प्रति सदय रहती हैं, यथायोग्य सबके मनोरथ पूर्ण हों—ऐसा अवसर वे प्रदान कर ही देती हैं। इसीलिये अब ये सूर्योदयसे पहले—गोपसुन्दरियोंकी भीड़ होनेसे पूर्व ही अपने नीलमणिका संलालन करती हैं। अन्यथा गोपसुन्दरियोंके आ जानेपर फिर नीलमणि शृङ्गार धराने बैठें और शान्तिसे शृङ्गार धरा लें, यह सम्भव जो नहीं। अस्तु, जननी अपने लड़ैते लालको जगाती हैं। फिर मुख-प्रक्षालन, गात्रपरिमार्जन, अभ्यञ्जन, उद्वर्तन, स्नान, अनुलेपन आदि क्रियाएँ सम्पन्नकर आभूषण धारण कराती हैं। अनेक कौशलसे श्रीकृष्णचन्द्रको भोजन कराती हैं। भोजनके अनन्तर व्रजरानीका वात्सल्य उमड़ता है, अपने नीलसुन्दरको भुजपाशमें बाँध लेती हैं, शयनपर्यङ्कपर स्वयं पौढ़ जाती हैं। नीलमणि भी जननीके वात्सल्यसे आप्यायित होकर क्षणभरके लिये अपने नेत्र निमीलित कर लेते हैं, मानो वे जननीका मनोरथ पूर्ण करते हुए सचमुच निद्रित हो गये हों। जब इतना हो लेता है, तब श्रीकृष्णचन्द्र वनकी ओर चलते हैं। जननी भी अनुगमन करती हैं, रह-रहकर जननी अञ्चलसे मुख पोंछकर आदेश करती हैं—'बस, यहींतक, यहींसे, इस स्थानसे ही लौट आना, भला!' और तब श्रीकृष्णचन्द्र मधुमिश्रित कण्ठसे, मृदुल मधुर आश्वासनवचनोंसे जननीको परितृप्तकर उन्हें घर लौटा देते हैं। यह बनी है व्रजमहारानीकी दैनंदिनी प्रातश्चर्या!—

तथा सति प्रतिदिवसमनुदित एव किरणमालिनि त्रिभुवनजनपावनजनन्या जनन्यायकोविदया दयालुहृदयया स्वयमेव शयनोत्थापनमुखधावन-परिमार्जनाभ्यञ्जनोद्वर्तनस्नपनानुलेपनालंकरण-कौशलानन्तरमाशयित्वा शाययित्वा च क्षणमनुगते-ऽर्द्धपथपर्य्यन्तमित एव निवर्त्यतामिति प्रतिमुहुरतिवत्सलां मातरमेनामति-मृदुलमधुरतरेण वचसा निवर्त्य।

किंतु यह सब होकर भी बलराम एवं श्रीकृष्णचन्द्र व्रजकी सीमासे दूर गोवत्स चराने नहीं जा पाते। इसमें जननीका शासन अभीतक ज्यों-का-त्यों बना है। व्रजपुरके निकट रहकर ही वेणु, वेत्र, शृङ्ग, कन्दुक प्रभृति अनेक प्रकारकी क्रीड़ासामग्री लिये सुबल, श्रीदाम आदि अगणित गोपबालकोंके साथ मिलकर दोनों वत्सचारण करते हैं—

अविदूरे व्रजभुवः सह गोपालदारकैः।
चारयामासतुर्वत्सान् नानाक्रीडापरिच्छदौ॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ३८)

अवश्य ही उनकी यथेच्छ क्रीड़ाके लिये अब कोई प्रतिबन्ध नहीं रहा। समीपमें व्रजदम्पति नहीं, वयस्क गोप-गोपी नहीं, परिचारिकाएँ भी नहीं; क्योंकि कुछ दिन सकुशल वत्सचारण होते देखकर सबके मनमें अनिष्टाशङ्काएँ शिथिल पड़ गयीं। अतः राम-श्यामको निर्बाध क्रीड़ाका अवसर प्राप्त हो गया। कभी तो उनकी वंशी बजती। कभी दोनों भाई एवं गोपशिशु—सभी मिलकर बहुत-से बिल्व एवं आमलकी-फल एकत्र करते तथा उन्हें रज्जुनिर्मित क्षेपणयन्त्रके द्वारा ऊँचे आकाशमें, उत्तुङ्ग वृक्षोंकी शाखाओंपर फेंकते; होड़ लगती—कौन कितना ऊँचा, कितनी दूर निक्षेप कर सकता है। कभी एक विशाल मण्डलकी रचना होती तथा मण्डलके मध्यमें खड़े होकर राम-श्याम अपने मञ्जीरमण्डित चरणोंसे सुमधुर नृत्य करते। कभी दो विचित्र मण्डलियाँ निर्मित होतीं—एक ओर समस्त गोपशिशु होते और दूसरी ओर राम-श्याम। गोपबालक कम्बलसे, वस्त्रोंसे अपने अङ्गोंको ढक लेते, दोनों हाथ पृथ्वीपर टेक देते, ग्रीवा ऊँची करके सिरको भी ढक लेते, केवल नेत्रोंके समीप कुछ स्थल छोड़कर शेष अङ्ग आवृत हो जाता और यथासम्भव शृङ्ग आदिके आकार बनाकर कृत्रिम गो-वृषभ बनकर, सजकर एक पंक्तिमें खड़े हो जाते तथा उनके ठीक सामने राम-श्याम भी ऐसी ही साजसे सजकर, कृत्रिम वृषभ बनकर गरजने लगते। फिर परस्पर युद्ध आरम्भ होता। इस युद्धमें विजय तो प्रायः गोपशिशुओंकी ही होती; पर हारनेपर भी राम-श्यामके आनन्दका पार नहीं रहता तथा कभी-कभी इन सब क्रीड़ाओंसे श्रान्त होकर, इन्हें परित्याग कर राम-श्याम दोनों भाई किसी सरोवर-तटपर, किसी वृक्षकी सुशीतल छायामें जा विराजते। उनके विराजनेकी देर थी, फिर तो हंस-मयूरादि विविध विहंगम आकर उन्हें घेर लेते, अपनी ग्रीवा उठाकर, पंख-प्रसारितकर मधुर कलरव आरम्भ करते। अब क्या चाहिये, श्रीकृष्णचन्द्रको क्रीडाकी एक वस्तु और मिल गयी। वे भी उस विहंगमोंके कल-कूजनका अनुकरण करने लग जाते। अपना मुख फुलाकर, संकुचितकर ठीक उनकी भाँति ही स्वर निकालते तथा सखामण्डली हँस-हँसकर लोट-पोट होने लगती। राम-श्यामकी इन विविध क्रीडाओंको देखकर कौन कह सकता है कि वे अखिलब्रह्माण्डपति हैं, प्रकृतिसे सर्वथा परेकी वस्तु हैं तथा ऐसे अपने स्वरूपमें नित्य स्थित रहते हुए ही ये ठीक ऐसी लीला कर रहे हैं, मानो सर्वथा प्राकृत शिशु हों। नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्रका बाल्यविहार, उनका यह प्राकृतानुकरण, प्राकृत मन-बुद्धिके द्वारा हृदयंगम कर लेना सम्भव जो नहीं! जो हो, नित्य अप्राकृतका यह प्राकृतानुकरण है अत्यन्त मधुर।—

क्वचिद् वादयतो वेणुं क्षेपणीः क्षिपतः क्वचित्।
क्वचित् पादैः किङ्किणीभिः क्वचित् कृत्रिमगोवृषैः॥
वृषायमाणौ नर्दन्तौ युयुधाते परस्परम्।
अनुकृत्य रुतैर्जन्तूंश्चेरतुः प्राकृतौ यथा॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ३९-४०)

इस प्रकार विविध क्रीड़ाओंका रस लेते हुए, रसदान करते हुए राम-श्याम दोनों भाई एवं असंख्य गोपशिशु अपने तुमुल आनन्दकोलाहलसे व्रजको, वनको गुञ्जित करते रहते। इस आनन्दकोलाहलको दूरसे सुन-सुनकर ही व्रजरानी धैर्य धारण करतीं और जब मध्याह्न आने लगता, तब विविध खाद्य द्रव्योंकी छाक सजाकर परिचारिकाओंके द्वारा वनमें भेज देतीं। राम-श्याम छाक आरोगते—

सखन सहित हरि जेंवत छाक।
प्रेम सहित मैया दै पठई, हित सौं बहुविध कीने पाक॥
सुबल सुदामा संग सखा मिलि भोजन रुचिकर खात।
ग्वालनि कर तें छाक छुड़ावत, मुख में मेलि सराहत जात॥
जे सुख कान्ह करत बृंदाबन, सो सुख तीन लोक बिख्यात।
सूर स्याम भगतन बस ऐसे ब्रह्म कहावत हैं नँदतात॥

जब छकहारी परिचारिकाएँ लौटने लगतीं, तब वयस्क गोपशिशुओंको आदेश दे जातीं—

अरे! रे! शीघ्रमेवायं प्रानयनीयो व्रजधरिणीश-प्रणयिन्याः प्राणस्य प्राण इति। (श्रीगोपालचम्पूः)

'अरे, ओ, सुनते हो, शीघ्र ही व्रजराजप्रणयिनी यशोदाके प्राणोंके प्राण इस नीलसुन्दरको घर लौटा ले जाना है।'

तबतक सचमुच दिन भी ढलने लगता। मुखमें पुष्प-तृणका ग्रास लिये गोवत्सोंको धीरे-धीरे चराते हुए श्रीकृष्णचन्द्र उन्हें व्रजकी ओर हाँक देते। पथमें भी उनकी क्रीड़ा होती ही रहती। कभी सुमधुर राग अलापते, कभी नृत्यका झंकार गूँज उठता, कभी हँस-हँसकर बालकोंको हँसाने लग जाते। न जाने उनके साथ मिलकर कितनी ऊधम करते, उनकी क्रीड़ाकी इति जो नहीं। ऊपरसे अमरवृन्द राशि-राशि कुसुमोंकी वर्षा करते रहते, पथ दिव्य कुसुमोंसे आस्तृत हो जाता और उसपर मन्द-मन्थर गतिसे चरण-निक्षेप करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र अपने गृहकी ओर चलते रहते—

सपुष्पतृणमुखान् वत्सान् व्रजाभिमुखान् विधाय शनैश्चारयन् गायन्नृत्यन् हसन् क्रीडन् × × × सुमनोभिश्च सुमनोभिर्वृष्यमाणः स्वगृहाय वर्त्म जगृहे।

(श्रीगोपालचम्पूः)

यह है श्रीकृष्णचन्द्रके प्रतिदिनके वत्सचारणका एक अत्यन्त संक्षिप्त क्रम। प्रतिदिन ही वे प्रातःकाल वनमें जाते हैं और सायंकाल लौट आते हैं। आज भी गये थे और लौट रहे हैं, पर आज गये थे एक विशेष अभिसंधि लेकर। वत्सासुर-उद्धारकी भूमिका जो उन्हें प्रस्तुत करनी है। आज वनमें श्रीकृष्णचन्द्र क्रीड़ामें समय न व्यतीत कर, सर्वथा वत्ससंलालनमें ही संलग्न रहे। जिस आन्तरिक उल्लाससे उन्होंने आज गोवत्सोंकी परिचर्या की है, वह तो अभूतपूर्व ही हुई है। व्रजपुरवासियोंने यह संलालन देखा नहीं, उन्होंने कतिपय वयस्क गोपबालकोंके मुखसे सुन पाया है। पर इसे देखा है कंसके असुर गुप्तचरोंने। उन सबने श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रत्येक प्रेमिल चेष्टाके दर्शन किये। गोपबालकोंकी दृष्टि उन गुप्तचरोंपर नहीं गयी। अन्यथा उनका आनन्दकोलाहल शान्त हो जाता, उनके निर्बाध सुखमें व्याघात होता। इसीलिये योगमायाने वहाँ, उस दिशाकी ओर एक झीनी चादर डाल दी थी। गोपशिशु उस ओर देखकर भी गुप्तचरोंको इसीलिये नहीं देख पाये, उनकी गन्धतक उन्हें नहीं मिली। वे तो वैसे ही परमानन्दमें निमग्न अपने प्राणसखा श्रीकृष्णचन्द्रके साथ व्रजमें लौट रहे हैं तथा आज उनको एक और विशेष कौतूहलकी वस्तु प्राप्त हो गयी है। मधुमङ्गलके नेत्रोंमें एक दिव्य शक्तिका उन्मेष हो गया है; आज दिनभर उसने आकाशमें क्या-क्या देखा है, वह सबको सुनाता रहा है। बालक पूरा समझ नहीं पाते, कुछ देख भी नहीं पाते, पर सुन रहे हैं बड़ी उत्सुकतासे। हाँ, उनके कर्णरन्ध्रोंमें सुरसुन्दरियोंके कोकिल कण्ठसे निस्सृत श्रीकृष्णस्तुति अवश्य प्रविष्ट हो रही है—

कमला-नायक, वैकुँठ-दायक, दुख-सुख जिन कें हाथ।
काँध कमरिया, हाथ लकुटिया, बिहरत बछरनि साथ॥

वत्सासुर-उद्धार

निशीथकी नैसर्गिक शान्ति मधुपुरके अधीश्वर कंसको स्पर्श नहीं करती। वह तो इस समय भी उतना ही उद्विग्न, वैसा ही अशान्त है, जब कि समस्त मधुपुर विश्रान्तिकी गोदमें नीरव—निष्पन्द हो रहा है। उसके प्राणोंमें, मनमें, रक्तध्मनियोंमें सतत एक झंझावातका-सा कम्पन रहता है। उसकी भयावह चिन्ताओंके तार टूटते नहीं। मृत्युनिवारणकी अनेकों नृशंस योजनाएँ बनती रहती हैं, वह इस सम्बन्धमें न जाने क्या-क्या सोचता रहता है। अभी भी सोच रहा है—

हन्त! सत्यतासारेण देव्या वचनानुसारेण नन्दगोपडिम्भतादम्भ एव स कोऽपि गोपितः सम्भाव्यते। येन नूतनावयवेनापि दुस्सहमहसः पूतनादयः सहसा गाम्भीर्यावृतेन वीर्यातिशयेनालम्भनीयतां लम्भिताः। त्रस्यति च तस्य नामधामवशान्मम हृदयम्। तस्मादसौ छलत एवोत्कलनीयः। (श्रीगोपालचम्पूः)

'आह! देवीकी बात तो परम सत्य होगी; उसके अनुसार मेरे प्राण अपहरण करनेवालेने जन्म तो लिया ही है और अब तो निश्चित सम्भावना हो रही है—वह चाहे कोई भी हो—है वह नन्दपुत्रका छद्मवेश धारण किये हुए, उसीमें छिपा है। स्पष्ट है—उस नन्दपुत्रकी इतनी छोटी आयु है, पर उसका बल-वीर्य कितना अपरिसीम है! देखनेसे प्रतीत थोड़े ही होता है कि वह इतना शक्तिशाली है। उसके बलपर गम्भीरताका एक आवरण पड़ा रहता है! अरे, उसीने तो पूतना आदि दुस्सह-बलसम्पन्न प्राणियोंको देखते-देखते मृत्युकी गोदमें सुला दिया! उँह! उसके नामकी, तेजकी बात स्मरण करते ही मेरा हृदय काँप उठता है! सम्मुख जाकर पार पाना असम्भव है; उसे तो छलसे उखाड़ फेंकना होगा।'

आवेशवश कंसका शरीर काँपने लगता है। शय्यासे उठकर वह हर्म्यके एकदेशमें घूमने लग जाता है। चिन्ताकी धारा भी अविच्छिन्न चलती ही रहती है—

हन्त! छलानप्युत्तरमुत्तरमतिरिक्तं युक्तमेव ते प्रयुक्तवन्तः। तथापि कदर्थितीभूय व्यर्थीभूताः।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'हाय! छलसे भी क्या होगा? जहाँ जो उपयुक्त थे, ऐसे उत्तरोत्तर एक-से-एक बढ़कर छल भी प्रयोग करके देख लिये गये। पर परिणाम क्या निकला? सभी तुच्छ सिद्ध हुए! सभी व्यर्थ!'

'दौवारिक!' सहसा कर्कश स्वरसे वह पुकार उठता है। द्वाररक्षकको आज्ञा होती है—'अभी इसी क्षण गुप्तचरको उपस्थित करो।'

चर अपने महाराजके आशयसे चिरपरिचित है। पर आज इस असमयमें आह्वान सुनकर उसका हृदय धक्-धक् करने लगता है। वह निकट जाकर वन्दना करके आज्ञाकी प्रतीक्षा करता है। उसे महाराजके मुखपर अङ्कित भावकी रेखा स्पष्ट दीख जाती है। महाराज भी किसी अन्य भूमिकाके बिना ही तुरंत बोल उठे—

अये! त्वयेदमप्यवकलितं जातौ कस्यां तस्यादरः स्नेहभरश्च परमः परामृश्यते?

'क्यों रे! तुमने यह भी देखा क्या कि उस नन्दपुत्रका सबसे अधिक प्रेम किसपर है? किसका आदर वह करता है? मेरा तात्पर्य है—मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग—किस जातिके प्राणी उसे सर्वाधिक प्रिय हैं? उसके आदरके पात्र कौन-से प्राणी हैं?'

इसी चरने यशोदाके नीलसुन्दरकी उस मनोहर वत्सचारणलीलाके दर्शन किये हैं। स्वयं अपनी आँखोंसे यह देख आया है—श्रीकृष्णचन्द्र प्रत्येक गोवत्सको ही मानो अपने प्राणोंका रस देकर आप्यायित कर देना चाहते थे। कभी वे अपने पीताम्बरको आर्द्रकर गोवत्सके फेनिल मुखका प्रक्षालन कर उसपर शत-शत चुम्बन

अङ्कित करने लग जाते थे। किसी गोवत्सका कण्ठ अपनी सुन्दर भुजाओंमें धारण कर लेते और फिर उसके सिरपर अपने चूर्णकुन्तलमण्डित सिरको रख देते थे। गोवत्स उनका यह अप्रतिम स्नेह पाकर, सारी चञ्चलता त्यागकर, किसी अनिर्वचनीय प्रेमानन्दमें विभोर होकर उनके हाथका यन्त्र बन जाता था। किसीके अङ्गोंपर लगे हुए धूलिकणोंको अपने सुकोमल करपल्लवसे अपसारितकर उसके अङ्गोंका सम्मर्दन करते थे। शीतमें भी उनके उन्नत भालपर, उभरे हुए सुन्दर कपोल-युग्मपर स्वेदबिन्दु झल-झल कर रहे थे, पर इस ओर उनका तनिक भी ध्यान न था; वे तो उनके लिये हरित, सुकोमल तृणराशि संचय करनेमें लगे थे। क्षुप, तृण, वीरुधोंके समीप जाकर पहले उसका एक पत्र लेकर सूँघते थे; फिर मुखमें रखकर स्वादकी परीक्षा करते थे। यदि वह सुरभित, सुमिष्ट होता तो उसे ले लेते थे; नहीं तो उसे छोड़कर दूसरी जातिके पत्र आहृत करते थे। गोपशिशु उनकी सहायता अवश्य करते थे, पर अधिकांश कार्य वे स्वयं कर रहे थे। राशि-राशि वन्य पुष्पोंको लेकर उन गोपशिशुओंने मालाएँ बनायी थीं और श्रीकृष्णचन्द्रने प्रत्येक गोवत्सको अपने हाथोंसे विभूषित किया था। वनमें आनेसे लेकर व्रजमें लौटनेतक छाक-भोजनके अतिरिक्त उन्होंने और कुछ भी नहीं किया था, एकमात्र वत्ससंलालनमें ही संलग्न रहे थे। उनकी इन अगणित प्रेमिल चेष्टाओंको देखते-देखते चरका राक्षस-हृदय भी आर्द्र हो उठा था; अतः इस समय कंसके पूछते ही चरके मानस नेत्रोंमें श्रीकृष्णचन्द्रकी वही झाँकी नाच उठती है। वह अविलम्ब अत्यन्त दृढ़ स्वरमें अपनी धारणा बना देता है, महाराजके प्रश्नका उत्तर दे देता है—

देव! गोवत्सेषु तदुत्सेकः प्रतीयते। (श्रीगोपालचम्पूः)

'नाथ! गोवत्सोंपर उस बालकका स्नेह उमड़ चलता है, ऐसा प्रतीत होता है।'

बस, इतना ही जानना अभिप्रेत था। चरको घर लौट जानेका आदेश होता है तथा दूसरे ही क्षण अङ्गरक्षक सेवकको दूसरी आज्ञा मिलती है—

आकार्यतां पुरतः स वत्सासुरः। (श्रीगोपालचम्पूः)

'उस वत्सासुरको मेरे सामने बुला लाओ।'

कंसके मुखपर आसुरी उल्लासकी एक क्षीण लहर झलमल कर उठती है। वत्सासुरकी प्रतीक्षामें वह द्वारकी ओर देखता रहता है और जब वह आ जाता है, तब फिर कंसके उल्लासका क्या कहना! मानो पिता-पुत्रका मिलन हुआ है। नीतिज्ञ कंस वत्सदैत्यकी ठीक वैसे ही प्रशंसा करने लगता है, जैसे वह अपने औरस प्रिय पुत्रके बल-वीर्यका, सुयशका गान कर रहा हो। यह करके फिर उसपर अपनी अभिसंधि प्रकट करता है।

वत्स वत्सासुर! गच्छ नन्दस्य व्रजम्। गत्वा च वत्सांश्चारयतः कुमारवतस्तत्कुमारस्य सदेशमासाद्य निजं वत्सवेशमुत्पाद्य तस्यापकारमारभस्व। (श्रीगोपालचम्पूः)

'हाँ! तो मेरे प्रिय वत्सासुर! तुम अब नन्द व्रजमें चले जाओ और जाकर एक काम करो! वहाँ वनमें वह नन्दकुमार वत्सचारण करता रहेगा, कुमारोचित क्रीड़ा करता रहेगा। उसके समीप चले जाना—इस कृत्रिम रूपमें नहीं, तुम अपने स्वाभाविक गोवत्सरूपको ही धारण कर लेना और उस रूपमें ही उसपर आघात करना, भला!'

समान विचार, समान चेष्टा—वत्स दैत्य वर्षोंसे अपने अधिपतिका ही तो अनुयायी रहा है। उसे तो अभिवाञ्छित ही प्राप्त हुआ। उसी क्षण वह मायावी वत्स व्रजेन्द्रके वत्सपालकी टोहमें चल पड़ा।

वत्सदैत्यके अनादि संसरणकी इति होने जा रही है। महर्षि वसिष्ठकी नन्दिनी (धेनु)-के वचन सत्य होने जा रहे हैं। एक दिन यह वत्सासुर ही मुरुका पुत्र प्रमील नामक दैत्य था। यह अमरविजेता प्रमील भाग्यक्रमसे किसी दिन वसिष्ठके आश्रमकी ओर जा निकला। सुरूपा नन्दिनीपर उसकी दृष्टि पड़ी, देखते ही वह प्रलुब्ध हो गया। उसे प्राप्त करनेकी इच्छासे प्रमीलने ब्राह्मणका वेष बनाया और फिर वसिष्ठसे नन्दिनीकी

याचना की। महर्षिकी वञ्चना प्रमील कर सके, यह तो कदापि सम्भव नहीं। पर शीलवान् वसिष्ठ मौन हो गये, इस दम्भीको क्या उत्तर दें? अवश्य ही नन्दिनी इस महत् प्रवञ्चनाको सह न सकी और बोली—

मुनीनां गां समाहर्तुं भूत्वा विप्रः समागतः।
दैत्योऽसि मुरुजस्तस्माद् गोवत्सो भव दुर्मते॥

(गर्गसंहिता)

'अरे! ब्राह्मण बनकर तू मुनियोंकी गायको हरण करने आया है! तू तो मुरुका पुत्र है, दैत्य है! दुष्टबुद्धि कहींका! जा, इस छलके कारण तू गोवत्स हो जा।'

उसी क्षण प्रमील गोवत्सरूपमें परिणत हो गया। अब उसे अपनी भूलकी प्रतीति हुई। नन्दिनीकी, महर्षिकी परिक्रमा कर, उनकी वन्दना करके वह रक्षाकी भीख माँगने लगा। स्नेहमयी नन्दिनी तुरंत द्रवित हो गयी और कह दिया—'अच्छा, जाओ; द्वापरके अन्तमें वृन्दावनमें जाकर जब तुम गोवत्सोंके साथ जाकर मिलोगे, तब तुम्हारी मुक्ति होगी।'

तबसे अगणित वर्ष व्यतीत हो गये। इस घटनाकी स्मृति क्रमशः क्षीण-क्षीणतर होती गयी; वत्स आज इसे सर्वथा विस्मृत कर चुका है और इधर कुछ दिनोंसे न जाने कैसे उसमें पुनः कुछ क्षणोंके लिये कृत्रिम रूप धारण करनेकी, अलक्षित होनेकी क्षमता भी आ गयी है; पर वह स्थायी नहीं रहती, नन्दिनीके शापवश वत्सरूप ही उसका स्वाभाविक रूप बना रहता है। जो हो, कभी कृत्रिम, कभी अलक्षित और कभी वत्सरूपसे अपने मायाकौशलका विस्तार करता हुआ वह वृन्दाकाननकी ओर चला जा रहा है, रात्रिका अवसान होनेसे पूर्व ही वृन्दाटवीकी दिशामें दौड़ा जा रहा है। उसे पता नहीं—उसके इस मलिन जीवनकी, भवाटवीभ्रमणकी यही अन्तिम रात्रि है। पता तो केवल स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य-लीलामहाशक्तिको है, जो चरको उन अनोखे वत्सपालके वत्सचारणका दर्शन कराने ले आयी थीं, कंसके मनमें समयोचित स्फुरणाएँ उद्बुद्ध कर आयी थीं और जो अभी इस समय प्रमील दैत्यको—नहीं-नहीं वत्सासुरको निर्दिष्ट स्थानकी ओर भगाये लिये जा रही हैं। अस्तु—

यह तो इधरका मानचित्र हुआ। उधर वृन्दावनका अनुपम दृश्य देखिये। सदाकी भाँति रजनीका विराम होनेपर राम-श्याम जागे; जननीके अपरिसीम वात्सल्यसे सिक्त होकर, सुमिष्ट भोजनसे तृप्त एवं मनोहर भूषण-वसनसे सुसज्जित होकर शत-शत गोपशिशु तथा असंख्य गोवत्सोंसे आवृत होकर वनमें चले। पहले शृङ्गध्वनिसे आकाश पूर्ण हुआ और फिर श्रीकृष्णचन्द्रके वंशीरवमें चर-अचर, स्थावर-जंगम डूबने लगे। कलिन्द-नन्दिनीके तटका अनुसरण करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र गिरिराज-परिसरकी ओर, व्रजसे दूर वनस्थलीकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। अब जननीकी ओरसे नियन्त्रण किञ्चित् शिथिल हो गया है, क्योंकि प्रतिदिन राम-श्याम सकुशल घर लौट आने लगे हैं; वनमें कहीं भी तनिक भी कोई भी अप्रिय घटना नहीं घटित हुई, यह बात मैयाने प्रत्येक गोपशिशुसे पूछ-पूछकर अपने मनका समाधान-सा कर लिया है। अस्तु, चलते-चलते श्रीकृष्णचन्द्र यमुनातटवर्ती एक परम रमणीय प्रशस्त भूमिखण्डपर चले आये। सुन्दर विशाल वट-वृक्षोंसे, कपित्थ-तरुपङ्क्तियोंसे, हरित तृणराशिसे सुशोभित उस वनकी शोभा देखते ही बनती है। गोवत्स तृण चरने लगते हैं एवं अपने प्रिय सखाओंके साथ राम-श्याम एक वटकी छायामें अवस्थित होकर उनका निरीक्षण करते हैं। यहीं राम-श्यामके प्राण-हरणकी इच्छा लिये वह वत्सासुर भी आ पहुँचता है—

कदाचिद् यमुनातीरे वत्सांश्चारयतोः स्वकैः।
वयस्यैः कृष्णबलयोर्जिघांसुर्दैत्य आगमत्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ४१)

आते ही वह गोवत्सोंकी अपार टोलीमें मिल गया। अवश्य ही उसकी दृष्टि राम-श्यामकी ओर ही केन्द्रित रही। तृण चरनेका अभिनय भी वह कर रहा है, पर क्रमशः राम-श्यामके संनिकट होता जा रहा

है; किंतु सहसा एक नयी बात हुई। उसके निकटवर्ती गोवत्स इस नये आये गोवत्सके—वत्सासुरके अङ्गोंसे निर्गत गन्धको सह न सके, उसकी गन्ध पाते ही उनमें भयका संचार हो गया; वे मल-मूत्र-त्याग करते हुए, पूँछ उठाकर कूदने लगे, अपने परम रक्षककी ओर दौड़ चले। श्रीकृष्णचन्द्रकी दृष्टि भी इस ओर चली ही गयी। कुछ क्षण वे उस ओर देखते रहे तथा फिर बलरामजीसे बोले—

बृहद्भातः! प्रातरनायातः परिदीयते वा क्वोऽयमुपतोयं प्रतीयते वत्सः। (श्रीगोपालचम्पूः)

'दाऊ भैया! प्रातःकाल मेरे साथ तो वह आया नहीं दीखता। तुम पहचानते हो, कुछ बता सकते हो, वह जलके समीप कौन-सा बछड़ा है? तुम्हें दीखता है न?'

अग्रज बलरामकी तो उस ओर दृष्टि ही नहीं थी। वे तो एक बार उधर देखकर अस्वीकारकी मुद्रामें बोल उठे—

भ्रातर्नहि नहि। (श्रीगोपालचम्पूः)

'भैया! नहीं; मैं तो कुछ नहीं जानता, कुछ नहीं पहचानता!'

श्रीकृष्णचन्द्र धीरेसे अपना एक हाथ बलरामके कंधेपर रखकर बोले—

निरूप्यताम्? (श्रीगोपालचम्पूः)

'ठीकसे देखकर बताओ तो सही, क्या बात है?'

इस बार बलरामकी तीक्ष्ण दृष्टि वत्सासुरके नेत्रोंमें समा गयी और वे धीरेसे कहने लगे—

भीषणप्रकृतिरिव प्रतीयते। (श्रीगोपालचम्पूः)

'यह तो अत्यन्त भीषण प्रकृतिका कोई जन्तु प्रतीत हो रहा है!'

रोहिणीनन्दनकी बात पूरी होते-न-होते श्रीकृष्णचन्द्रने रहस्योद्घाटन कर दिया—

पूर्वज! पूर्वदेवोऽयम्। (श्रीगोपालचम्पूः)

'दाऊ भैया! दाऊ भैया! यह तो राक्षस है!'

फिर तो बलरामने भी अपने अनुजका समर्थन ही किया—

सत्यम्; यस्मादस्मासु वत्सेषु चाकस्मादकृष्टिजा दृष्टिरस्य दृश्यते।

'बिलकुल ठीक! देखो न, हमलोगोंपर तथा अपने गोवत्सोंपर अकस्मात् इसकी कितनी क्रूर दृष्टि दीख रही है!'

व्रजेन्द्रनन्दनके मुखपर किञ्चित् रोषकी लालिमा भर आयी और वे अपने अग्रजके कानमें धीरेसे कहने लगे—

यदि भवदादिष्टं स्यात्तर्ह्येतं दिष्टान्तमासादयामि।

'आपकी आज्ञा हो जाय, फिर तो मैं इसे मृत्युके मुखमें पहुँचा देता हूँ।'

अपने अनुजको यह अनुमति प्रदान करनेमें रोहिणीतनयको एक बार झिझक हुई, पर फिर हँसकर उन्होंने स्वीकृति दे ही दी। हाँ, सावधान अवश्य कर दिया—

सच्छलमेतं सच्छलमेव मन्दं मन्दमभ्यवस्कन्द।

'देख भैया! छलके साथ यह दैत्य यहाँ आया है; तो तू भी इसके समक्ष छल करते हुए धीरे-धीरे—मानो तुझे इसका सर्वथा पता नहीं हो, तू तो किसी अन्य गोवत्सकी ओर जा रहा हो—इस प्रकार जाना, भला!'

अग्रज-अनुजका यह परामर्श क्षणोंमें ही सम्पन्न हो गया और इतने गुप्तरूपसे, मानो कुछ हुआ ही नहीं; केवलमात्र श्रीकृष्णचन्द्रने गोवत्स-वेषमें आये दैत्यको बछड़ोंके समूहमें मिल जाते देख लिया हो तथा फिर बलरामजीको दिखाकर उसके पास सर्वथा मुग्ध-से बने हुए जा पहुँचे हों, जैसे इतनी-सी ही बात हुई हो—

तं वत्सरूपिणं वीक्ष्य वत्सयूथगतं हरिः।
दर्शयन् बलदेवाय शनैर्मुग्ध इवासदत्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ४२)

अस्तु, वत्सासुरको प्रतीत हुआ कि बिना परिश्रम सर्वोत्तम अवसर प्राप्त हो गया है। एक क्षणका भी विलम्ब न करके वह अपने दोनों पिछले पैरोंसे श्रीकृष्णचन्द्रके स्कन्धदेशपर भरपूर आघात कर बैठा—

दैत्यः पश्चिमपादाभ्यां हरिमंसे तताड ह।

श्रीकृष्णचन्द्र तो सावधान हैं ही। उन्होंने पूँछके सहित उसके दोनों पिछले पैरोंको हाथसे पकड़ लिया, फिर उसे ऊपर उठाकर चक्राकार घुमाने लगे। इस प्रकार दो-चार बार घुमानेकी ही देर थी; फिर तो उसके संसारचक्रका परिभ्रमण सदाके लिये समाप्त हो गया। देवविजयी वत्सासुरके शरीरकी समस्त शक्तियाँ इतनेमें ही शान्त हो गयीं, शरीर निष्प्राण हो गया। अब मृतदेहको घुमानेमें लाभ ही क्या? श्रीकृष्णचन्द्रने उस देहको एक कपित्थ-वृक्षपर पटक दिया। महाप्रयाणके अन्तिम क्षणमें वत्सका प्रकाण्ड दैत्यशरीर प्रकट हो गया था। ऐसे अत्यन्त विशाल दैत्यदेहके आघातसे वह कपित्थ तो टूटकर गिरा ही, कई कपित्थतरु एक-दूसरेके आघातसे छिन्न-भिन्न होकर वत्सासुरके साथ ही धराशायी हो गये—

गृहीत्वापरपादाभ्यां सहलाङ्गूलमच्युतः।
भ्रामयित्वा कपित्थाग्रे प्राहिणोद् गतजीवितम्।
स कपित्थैर्महाकायः पात्यमानैः पपात ह॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ४३)

पुच्छ सहित लै पिछले पाइ, दियौ फिराइ-फिराइ बगाइ।
महाकाइ ऊपर ही मर्यौ, बहुत कपित्थन लै धर पर्यौ॥

सहसा ऐसी घटना घटित देखकर गोपशिशु एक बार तो भयसे चीत्कार कर उठते हैं—

सब सिसु जुरि कैं, सकल बटुरि कैं।
अति भय भरि कैं, लहत हहरि कैं॥

किंतु दूसरे ही क्षण श्रीकृष्णचन्द्रके मुखपर उज्ज्वल हास देखकर, अग्रजको उल्लासवश ताली पीटते देखकर उनका भय जाता रहता है। अवश्य ही वत्सासुरके उस भीषण बृहत् शरीरको देखकर उनके आश्चर्यका पार नहीं रहता। और अब तो सभी बालक एक स्वरसे श्रीकृष्णचन्द्रको साधुवाद देने लगते हैं—

तं वीक्ष्य विस्मिता बालाः शशंसुः साधु साध्विति।

(श्रीमद्भा० १०। ११। ४४)

भयौ अचंभौ देखि कैं, चकित भए ब्रजबाल।
या खल तें रच्छा करी, धन्य धन्य गोपाल॥

अन्तरिक्षसे परिसंतुष्ट हुए देववृन्द भी श्रीकृष्णचन्द्रपर सुमनवृष्टि करने लग जाते हैं—

देवाश्च परिसंतुष्टा बभूवुः पुष्पवर्षिणः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ४४)

सुर हरषे, नभ फूलन बरसे।

वत्सासुरकी चरमपरिणति क्या हुई, इसे भी—गोपशिशुओंने तो नहीं—सुरसमुदायने अवश्य देख लिया—

तद्दैत्यस्य महज्ज्योतिः कृष्णे लीनं बभूव ह।

(गर्गसंहिता)

'उस दैत्यके अन्तर्देशसे निकली एक परम ज्योति श्रीकृष्णचन्द्रमें लीन हो गयी।'

वत्सदैत्यको यह योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्लभ गति देकर श्रीकृष्णचन्द्र तो गोपशिशुओंके साथ मनोरम बाल्यविहारमें तन्मय होने लगते हैं—

तदनु दनुजदमनो मनोरमहेलालसो लालसो निजसहचरनिकरेषु''''। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

और अन्तरिक्षचारी विबुधवृन्दकी, सिद्ध-गन्धर्व-किंनरोंकी वृत्तियाँ लीन होने लगती हैं राम-श्यामके सुयशगानमें। उनकी अन्य समस्त वासनाएँ समाप्त हो गयीं हैं। बस, सबके अन्तस्तलके तारोंपर एक ही झंकार है—

स्याम-बलराम कौं सदा गाऊँ।
स्याम-बलराम बिनु दूसरे देव कौं स्वप्न हू माहिं नहिं हृदय ल्याऊँ॥
यहै जप, यहै तप, यहै मम नेम-ब्रत, यहै मम प्रेम, फल यहै ध्याऊँ।
यहै मम ध्यान, यहै ग्यान, सुमिरन यहै, सूर-प्रभु देहु हौं यहै पाऊँ॥

वकासुरका उद्धार; वकासुरके पूर्वजन्मका वृत्तान्त

सप्तस्वर्ग-सप्तपातालसमन्वित असंख्य ब्रह्माण्ड-श्रेणीके प्रधान पालक जब वत्सपाल बने हैं, अपने अनन्त—अपरिसीम ऐश्वर्यको रससिन्धुके अतलतलमें डुबाकर व्रजेन्द्रतनय श्रीकृष्णचन्द्रने, रोहिणीनन्दन बलरामने जब गोशावक-संलालनका व्रत स्वीकार किया है, तब दिनचर्या भी उसके अनुरूप होनी ही चाहिये। इसीलिये इस वृन्दावनमें—

ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥*

—इस मन्त्रपाठके द्वारा उनका आवाहन नहीं होता; आसन, पाद्य, अर्घ्य, स्नानीय, धूप, दीप, नैवेद्य आदिका विधिवत् समर्पण होकर उनकी आराधना नहीं होती। यहाँ तो रजनीका विराम होनेपर व्रजेश्वरीके सुमधुर मनुहारपूरित संगीतके द्वारा, जननीकी अतिशय प्रेमिल भर्त्सनाओंके द्वारा वे जगाये जाते हैं—

जागौ हो तुम, नंदकुमार!
बलि-बलि जाउँ मुखारबिंद की, गोसुत मेलों करौ सँभार॥
आज कहा सोवत, त्रिभुवनपति! और बार तुम उठत सबार।
बारंबार जगावति माता, कमलनयन! भयौ भवन उजार॥

× × ×

कौन परी नँदलालै आन।
प्रात समैं जागन की बिरियाँ सोवत है पीतांबर तान॥
मात जसोदा कब की ठाढ़ी, लै ओदन भोजन घृतसान।
जागौ स्याम! कलेऊ कीजै, सुंदर बदन दिखाऔ आन॥
संग सखा सब द्वारैं ठाढ़े, मधुबन धेनु चरावन जान।
सूरदास अति ही अलसाने सोवत हैं अजहूँ, निसि मान॥

और फिर जननीका अञ्चल ही उनका आसन होता है। यहाँ यह निश्चित नहीं कि मुख-प्रक्षालन, स्नान, सम्मार्जन होनेके अनन्तर ही नैवेद्य अर्पित हो। अपने क्रोडमें अञ्चलपर आसीन श्याम-बलरामको निहारकर जननी प्रतिदिन आत्मविस्मृत-सी होती ही है और न जाने कितनी बार संलालनके क्रममें व्यतिक्रम होता है। संलालन कलेऊसे ही आरम्भ होता है। दोनों पुत्रोंको भुजपाशमें बाँधकर जननी स्फुट कण्ठसे मनमाना गीत गाती हुई सर्वप्रथम नैवेद्यका उपहार ही समर्पित करती हैं—

करौ कलेऊ राम कृष्ण मिलि, कहत जसोदा मैया।

× × ×

उठत प्रात कछु मात जसोदा मंगल-भोग देत दोउ छोरा।
माखन, मिश्री, दही, मलाई, दूध भरे दोउ कनक-कटोरा॥

यह होनेपर फिर स्नान, सम्मार्जन आदि सम्पन्न होते हैं। श्रीकृष्ण-बलरामके श्यामल-गौर श्रीअङ्गोंपर तो नित्य लावण्यकी लहरें उठती रहती हैं। वहाँ मलिनताकी छाया भी नहीं। जहाँ मालिन्य है, वहाँ ही संस्कार-परिष्कृति अपेक्षित होती है। नित्य नव सुन्दरको क्या तो नहलायें, क्या विभूषित करें।

यह तो यशोदारानीके वात्सल्यसिन्धुकी चञ्चल लहरें हैं, जो विविध शृङ्गारसे, आभूषणोंसे वे अपने पुत्रोंको विभूषित करती रहती हैं। ऐसा करना उन्हें आवश्यक प्रतीत होता है। इसीलिये, भ्रान्तिवश ऐसी भूल हो जानेपर, स्नानसे पूर्व ही कलेवा करा देनेपर पश्चात्ताप भी करने लगती हैं; उन्हें भय होने लगता है, ऐसा करनेसे उनके नीलसुन्दरके, अग्रजके शरीरमें व्याधि होनेकी सम्भावना है; उनका अबोध सरलमति नीलमणि आगे चलकर ऐसी अशुचिताका अभ्यासी बन जायगा। जो हो, तात्पर्य यह है कि यहाँ—इस

---

* उन परम पुरुषके सहस्रों (अनन्त) मस्तक, सहस्रों नेत्र और सहस्रों चरण हैं। वे इस सम्पूर्ण विश्वकी समस्त भूमि (पूरे स्थान)-को सब ओरसे व्याप्त करके इससे दस अङ्गुल (अनन्त योजन) ऊपर स्थित हैं। अर्थात् वे ब्रह्माण्डमें व्यापक होते हुए उससे परे भी हैं।

वृन्दाकाननमें वत्सपाल बने हुए सर्वलोकैकपाल राम-श्यामकी अर्चना निराले ढंगसे ही होती है; यहाँ विधि-विधान कुछ नहीं, यहाँ तो जननीके, गोपसुन्दरियोंके, गोपोंके अन्तस्तलमें प्रवाहित अनाविल प्रेमसिन्धुकी ऊर्मियोंपर ही राम-श्याम निरन्तर नृत्य करते हैं। लहरें जहाँ—जिस ओर जैसे बहा ले जाती हैं, वहाँ ही उसी ओर वैसे ही दोनों बह जाते हैं। अस्तु, अब तो दोनोंका दैनन्दिन क्रम यह हो गया है—शय्यासे गात्रोत्थान करते ही वे शीघ्र-से-शीघ्र स्नानादि प्रातःकृत्य समापन कर लेते हैं; फिर अत्यन्त अल्प समयमें ही जननीके धराये शृङ्गारको धारण कर लेते हैं और तब प्रातःकालीन भोजन भी अतिशय त्वरासे नन्दभवनमें ही हो जाता है। उसके बाद यहाँ और कुछ नहीं, सब कुछ वनमें तथा असंख्य गोवत्सोंके, गोपशिशुओंके समाजमें। सखाओंसे परिवेष्टित रहकर दिनभर दोनों भाई वत्सचारण करते हुए वनमें ही घूमते रहते हैं—

तौ वत्सपालकौ भूत्वा सर्वलोकैकपालकौ।
सप्रातराशौ गोवत्सांश्चारयन्तौ विचेरतुः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ४५)

वत्सासुरका उद्धार तो हो ही गया, पर उसके कारण इनके स्वच्छन्द विहारमें कोई बाधा नहीं आयी। वत्सासुरके आनेकी बात अधिकांश गोपोंने, व्रजरानीने जानीतक नहीं। उसी दिन श्रीकृष्णचन्द्रने सखागोष्ठीमें मन्त्रणा कर यह स्थिर कर लिया था—'कोई भी इस घटनाकी बात किसीको न बताये; अन्यथा मैया वत्सचारणके लिये मुझे वनमें नहीं आने देगी, कम-से-कम सुदूर वनमें नहीं जानेका प्रतिबन्ध तो पुनः लग ही जायगा और फिर हमलोगोंकी स्वच्छन्द क्रीड़ा नहीं हो सकेगी!' बालकोंने वैसा ही किया, किसीको कुछ भी नहीं बताया। सदाकी भाँति श्रीकृष्णचन्द्रका वनगमन, वत्सचारण, वनविहार निर्बाध चलता ही रहा। जनश्रुतिके रूपमें मधुपुरसे यह बात व्रजपुरमें भी आयी अवश्य; पर किसीने इस ओर ध्यान नहीं दिया। इसकी प्रतिक्रिया तो मधुपुरके अधीश्वर कंसपर हुई। जिस क्षण अपने पूर्व गुप्तचरके मुखसे कंसने वत्सासुर-निधनकी बात सुनी, उसे प्रतीत हुआ मानो हालाहल विषकी ज्वाला कर्णरन्ध्रोंके पथसे हृदयमें प्रविष्ट हो गयी। अन्तस्तल झुलस गया। नेत्रोंमें अँधेरा छा गया। अतिशय वेगसे उसने आँखें बंद कर लीं—

कंसस्तु तस्माद्वत्सपादपि वत्सासुरनिर्वासनमपसर्पन्मुखाद्विषमिव कर्णरन्ध्रस्पर्शमात्रेणान्तः सम्भूय भृशं दृशौ निमीलयामास। (श्रीगोपालचम्पूः)

इतना ही नहीं, संज्ञाशून्य होकर गिर पड़ा वह। जीवनमें प्रथम बार इतनी गहरी मूर्च्छा कंसको हुई, मानो वह निष्प्राण हो गया हो। सचमुच बाहरसे जीवनके सभी लक्षण कुछ क्षणके लिये विलुप्त हो गये। मन्त्री दौड़े, अनेकों उपचार आरम्भ हुए, फिर कहीं जाकर उसे किसी प्रकार बाह्यज्ञान हुआ—

तेन दशमीमिव दशां प्रापितः स तु मन्त्रिभिः कथंचिद्बहिरवधापितः। (श्रीगोपालचम्पूः)

अब अपेक्षित मन्त्रणा पुनः प्रारम्भ हुई। कंस भीति एवं अतिशय खेदसे पूर्ण वाणीमें सभासदोंमें अपना मनोभाव प्रकट करने लगा—

हन्त सम्भाविता दम्भान्विता बहवः प्रस्थापिता न तु तैर्भद्रं किंचिदपि संचितम्। (श्रीगोपालचम्पूः)

'हाय! एक नहीं, बहुत-से प्रतिष्ठित छद्मवेश धारण करनेवाले भेजे गये; किंतु उनके द्वारा किंचिन्मात्र भी हित-साधन नहीं हुआ।'

कुछ शब्दोंमें ही कंसराजने परिस्थितिकी गम्भीरता बता दी। पर वह मन्त्रिमण्डल भी तो अपना महत्त्व रखता है। मन्त्रियोंने अपने महाराजमें पुनः नवीन आशा संचारित कर देनेके उद्देश्यसे यह परामर्श दिया—

देव! केवलं बकमत्र बलमवलम्बामहे।
यतस्तज्जातावेव दम्भसम्भारा गम्भीरायन्ते॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'स्वामिन्! अब तो बकासुरके बलका ही आश्रय करें; क्योंकि बगुलेकी जाति ही ऐसी होती है, जहाँ दम्भका जाल गहरा बन जाता है।'

सचमुच कंसको बकासुरकी विस्मृति हो गयी थी। मन्त्रियोंने उपयुक्त अवसरपर ही स्मरण

कराया। फिर तो उल्लासमें भरकर कंसने इसका अनुमोदन ही किया—

आं आं मम सुहृत्तमः स एव केवलस्तत्र प्रस्थापनाय स्थाप्यताम्।

'हाँ, हाँ! बहुत ठीक, मेरे उस सुहृत्तम वकासुरको ही वहाँ भेजा जाय।'

वकासुरका एवं वकभगिनी पूतनाका प्रथम मिलन मानो उसकी स्मृतिमें नाच उठा। कंस एवं वक दोनों ही भीषण द्वन्द्व-युद्धमें संलग्न हुए थे। अत्यन्त पराक्रमी वकने कंस-जैसे महाविक्रान्त योद्धाको भी अपने मुखका ग्रास बना लिया था। दुर्धर्ष कंसने भीतर जाकर भी प्रचण्ड पराक्रमसे अपने-आपको उगल देनेके लिये वकासुरको बाध्य तो अवश्य कर दिया और फिर उठाकर घुमाते हुए उसे पटक देनेमें भी समर्थ वह अवश्य हुआ; पर वकके अपरिमेय बलकी छाप उसपर पड़ ही गयी। तथा इसीलिये उसी क्षण जब अपने भाईको विपन्न पाकर उसकी बहिन पूतनाने कंसको अपने साथ युद्धके लिये ललकारा, तब कंसने यही उत्तर दिया था—

स्त्रिया सार्द्धमहं युद्धं न करोमि कदाचन।
वकासुरः स्यान्मे भ्राता त्वं च मे भगिनी भव॥

(गर्गसंहिता)

'देख, स्त्रियोंके साथ मैं कभी युद्ध नहीं करता। आजसे वकासुर तो मेरा भाई बने और तू मेरी बहिन।'

अस्तु, तबसे वक-वकीका सौहार्द कंसके प्रति अक्षुण्ण रहा। वकी—पूतनाने तो अपने प्राण कंसके लिये दिये ही। अब वकासुरकी परीक्षाका अवसर था। मन्त्रियोंके मुखसे उसका नाम सुनते ही कंस एक बार पुनः सुख-स्वप्न-सा देखने लग गया, उसे आशा बँध गयी—नन्दपुत्रको वकासुर तो निगल ही जायगा! फिर विलम्ब क्यों? तुरंत ही वकका आह्वान हुआ, वह सभामें उपस्थित हुआ; उसे सारी योजना समझा दी गयी और वह व्रजेशपुत्रको अपने मुखका ग्रास बनानेके उद्देश्यसे चल पड़ा।

इधर श्रीकृष्णचन्द्र भी सदाकी भाँति वत्सचारण करने वन चले। वही त्रिभुवनमोहन सौन्दर्य है, वही मधुरातिमधुर बाल्यभङ्गिमा है, वैसी ही क्षीरसिन्धुकी उच्छलित तरङ्गों-जैसी गोवत्सराशि आगे-आगे आ रही है, वैसा ही परमानन्दमें निमग्न क्रीडापरायण गोपशिशुओंका समाज है, अग्रजका संरक्षण है। अपनी बङ्किम चितवनसे वनस्थलीकी शोभा निहारते, हँसते-हँसाते, अपनी वंशीकी मधुर स्वर-लहरीसे वृन्दाकाननको रसप्लावित करते, झूमते हुए वे धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे हैं। चलते-चलते नवतृणास्तीर्ण वनभूमि आ जाती है। वहाँ एक परम रमणीय सरोवर है। सरोवरके संनिकट मनोहर नव-नवाङ्कुरित तृणराजि है, जो जलका सांनिध्य पाकर सान्द्र-स्निग्ध बन गयी है। इस परम सुन्दर वन्य भू-भागको देखकर श्रीकृष्णचन्द्र समस्त गोवत्सोंको यहीं निवेशित करते हैं, आज यहीं क्रीड़ा होगी—

नवशाद्वलतलमालोकयन् क्वचन जलाशयोपकण्ठे ललितानि नवनवाङ्कुरितानि शष्पाणि पानीय-संनिकर्षसुमेदुराणि समालोक्य वत्सकुलं तत्रैव निवेशयामास। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

उल्लासमें भरे राम-कृष्णकी, गोपशिशुओंकी यहाँ प्रथम चेष्टा होती है—अपने-अपने वत्सससमुदायको सरोवरका सुनिर्मल जल पिलाकर तृप्त करना। इतनी दूरसे चलकर आये गोवत्सोंको प्यास लगी ही होगी; श्रीकृष्णचन्द्रको, उनके सखाओंको स्वयं भी जो प्यासकी अनुभूति हो रही है। अतः प्रथम सभी अपने-अपने वत्सकुलको सरोवरमें उतारते हैं, उनके जलपान कर लेनेपर तीर-देशमें उन्हें तृण चरनेके लिये उन्मुक्त छोड़ देते हैं। इसके अनन्तर स्वयं उस सुनिर्मल सुमिष्ट जलका पान कर तृप्त होते हैं—

स्वं स्वं वत्सकुलं सर्वे पाययिष्यन्त एकदा।
गत्वा जलाशयाभ्याशं पाययित्वा पपुर्जलम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ४६)

गोपशिशुओंमें नवस्फूर्तिका संचार हुआ और वे जलाशयके तीरपर लगे दौड़ने। इसी समय सहसा उनकी दृष्टि एक विचित्रकाय जन्तुपर चली जाती है, जलके समीप ही वह जन्तु बैठा जो है। उज्ज्वलवर्ण, अत्यन्त प्रकाण्ड। वह सचमुच क्या वस्तु है, बालक

यह निर्णय नहीं कर सके ! मानो वज्राघातसे एक गिरिशृङ्ग टूट गया हो; टूटकर भूमिपर, उस सरोवरके तटपर ही आ गिरा हो! ऐसे विशालकाय जन्तुको देखकर बालक अत्यन्त भयभीत हो गये—

ते तत्र ददृशुर्बाला महासत्त्वमवस्थितम्।
तत्रसुर्वज्रनिर्भिन्नं गिरेः शृङ्गमिव च्युतम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ४७)

यह जन्तु और कोई नहीं, वही कंसप्रेरित वकरूपधारी महाबली वक दैत्य है, अपनी घातमें बैठा है—

स वै वको नाम महानसुरो वकरूपधृक्।

(श्रीमद्भा० १०। ११। ४८)

किंचिद् वयस्क एवं साहसी बालकोंने कुछ आगे बढ़कर यह तो जान लिया कि यह एक अत्यन्त विशालकाय बगुला पक्षी है। पर जब उन्होंने उस वकके विस्तारित चञ्चुपुटोंकी ओर देखा, तब उनके प्राण सूख गये—

धरणितलमुन्नमयन्निव धरणितलनिहितोत्तर-
चञ्चुर्दिवमवनमयन्निव द्युतलनिवेशितोर्ध्वचञ्चुश्च
युगपदेव देवदनुजमनुजादिसकलजीवजीवनाकर्षणाय
विततायतमहासंदंशं विवृत्य स्थित इव कालपुरुषः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'मानो धरणीको उत्पाटितकर ऊर्ध्वदेशमें ले जानेके उद्देश्यसे उसने अपने नीचेकी चोंचको धरातलसे संलग्न कर रखा है, एवं स्वर्गको उखाड़कर धरातलपर लानेके लिये ही उसका ऊर्ध्वचञ्चु आकाशमें उठा है। मानो एक साथ देव, दनुज, मानव—समस्त जीवोंके प्राण आकर्षण करनेके लिये विशाल संडासी विस्फारितकर कालपुरुष वहाँ अवस्थित हो!'

गोपबालक भगे अपने प्राणाधारसखा श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर। श्रीकृष्णचन्द्रकी स्वतः भी दृष्टि उस विशालकाय वककी ओर ही लगी है। दो-एक सहचरोंसे वे उस वककी ही चर्चा कर रहे हैं—

आकारात्पक्षितुल्यः स्याद् व्यापारान्न च पक्षिवत्।
वकः किं नवकः साक्षात् कूटवत् स्थितिरीक्ष्यते॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'भैयाओ! देखो, आकारसे तो वह पक्षीके समान ही लगता है, पर इसकी चेष्टा पक्षी-जैसी नहीं है। क्या यह कोई नवक वक—नयी जातिका बगुला है?* पर्वतशृङ्ग-जैसा प्रतीत हो रहा है।'

इतनेमें आकर गोपसखा उन्हें घेर लेते हैं तथा श्रीकृष्णचन्द्रकी बात पूरी होते-न-होते अतिशय भीति-भरे स्वरमें कई एक साथ ही कहने लग जाते हैं—

सखे! नायं पक्षी। अपि तु सकलानेव नो गिलितुमिव कृतारम्भेण गुरुतरदम्भेन केनापि वकाकृतिना दानवेनैव भवितव्यम्। तदितः पलायनमेवास्माकं पथ्यम्। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे भैया कन्हू! यह पक्षी नहीं है। यह तो हम सबको निगल जानेके उद्देश्यसे आया हुआ, अत्यन्त छद्मनिपुणतासे बगुलेकी आकृति धारण करनेवाला कोई दानव होगा। अतः यहाँसे भाग चलनेमें ही हम सबोंका कल्याण है।'

कुछ गोपशिशु अतिशय त्वरासे बोल उठते हैं—

कैलाशशिखरिशिखरव्राघीयसः शरीरादपि दीर्घदीर्घतराच्चञ्चुपुटादस्य कथं पलायनमपि।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे' देखते नहीं! कैलास पर्वतके शिखरकी अपेक्षा भी इसका शरीर बड़ा है और इस अतिशय दीर्घ शरीरसे भी इसके चञ्चुपुट दीर्घ—दीर्घतर हैं। इसकी चोंचसे बचकर भागोगे कैसे?'

अपने सखाओंकी यह बात सुनकर श्रीकृष्णचन्द्रके अरुणिम अधरोंपर मृदु हास्यकी सुन्दर रेखा-सी खिंच जाती है। उस स्मितकी ओटसे सुधा-सीकर झरने लगते हैं। मुखमण्डलका सौन्दर्य, लावण्य निखर उठता है। अमृतस्यन्दी स्वरसे सखाओंको 'नाशङ्कनीयम्'—

---

* अनन्तैश्वर्यनिकेतन स्वयंभगवान्‌के मुखारविन्दसे कूटभाषाकी ओटमें सत्य प्रकट हो गया। 'नवक वक' कहकर उन्होंने संकेत कर दिया—'यह वक नहीं, वकासुर दैत्य है।'

भयभीत मत होओ, कहकर आश्वासन देते हुए अरविन्दनयन श्रीकृष्णचन्द्र वकमुखकी और भी संनिधिमें जानेका विचार करते हैं, चल पड़ते हैं। इस समय सर्वज्ञ, सर्ववित्—स्वयंभगवान् व्रजेन्द्रनन्दनका यह बाल्यावेश देखने ही योग्य है। उन्हें सब कुछ पता है; यह कौन है, क्या करने आया है—वे सब कुछ जानते हैं। फिर भी मुखकमलपर ऐसा मुग्धभाव है, जैसे उन्हें इस प्रकाण्ड वकपक्षीके सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञान नहीं; इतने सरल मुग्ध शिशुकी भङ्गिमा धारण किये वे वकतुण्डकी ओर अग्रसर हो रहे हैं—

पुण्डरीकलोचनस्तं जानन्नप्यजानन्निव तस्य तुण्डसंनिधिमेव गमनेऽवधिं चकार।

(श्रीगोपालचम्पूः)

भीतिविजड़ित नेत्रोंसे गोपशिशु अपने प्राणाराम सखाकी यह चेष्टा देखने लगते हैं। अवश्य ही श्रीकृष्णचन्द्रके मुखपर तो भयकी छाया भी नहीं है। उन्हें भय क्यों हो? वे व्रजेन्द्रके वत्सपाल भले ही हों, पर हैं तो अखिललोकके अभयदाता ही न! वे मन्द-मन्थर गतिसे वकके संनिकट होते जा रहे हैं। उनकी चालसे स्पष्ट है—भय नहीं, अपितु उस वकके प्रति उपेक्षा—अवहेलना है—

अकुतोभयमभयदमखिललोकस्य सहेलमभिमुखमुपसर्पन्तम् × × ×।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

किंतु आह! यह क्या हुआ! अरे वह वक उचका! श्रीकृष्णचन्द्रके निकट वह सहसा आ गया! हाय रे! इस महाबली तीक्ष्णतुण्ड पक्षीने तो नीलसुन्दरको अपने चञ्चुपुटोंमें रख लिया! आह! व्रजजीवन नीलमणि वकमुखके ग्रास बन गये—

आगत्य सहसा कृष्णं तीक्ष्णतुण्डोऽग्रसद् बली।

(श्रीमद्भा० १०। ११। ४८)

वनविहंगम आर्तनाद कर उठे। तरु-वल्लरियोंमें बड़े वेगका प्रकम्पन आरम्भ हुआ। वन्यमृगोंमें, कपिदलमें एक विचित्र मर्मभेदी करुण कोलाहल होने लगा। अन्तरिक्षमें समस्त देवसमुदाय चीत्कार कर उठा तथा राम एवं गोपशिशु? आह! प्राण निर्गत होनेपर मृतदेहस्थ चक्षु आदि इन्द्रियोंकी क्या दशा होती है? जब उनके प्राणस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र ही उन्हें छोड़कर वकमुखमें समा गये, तब अग्रजमें, गोपशिशुओंमें रखा ही क्या है? श्रीकृष्णचन्द्रको बगुला निगल गया, नेत्र-गोलकने इतना ही देखा; फिर तो निष्प्राण शरीरके इन्द्रियगोलककी भाँति रामके सहित समस्त गोपशिशु चेतनाशून्य हो गये—

कृष्णं महावकग्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः।
बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणं विचेतसः॥

(श्रीमद्भा० १०। २१। ४९)

जब बक ग्रस्यौ कुँवर नँदलाल। बल समेत सब ग्वाल के बाल॥
भए बिचेतन ते तन ऐसैं। प्रान बिना इंद्रीगन जैसैं॥

अवश्य ही अचिन्त्य लीला-महाशक्तिके प्रभावसे प्रत्येक गोपशिशुके नेत्र निमीलित नहीं हुए, ज्यों-के-त्यों खुले रहे तथा नेत्रमें लीलोपयोगी दर्शनशक्ति भी बनी रही। इसके अतिरिक्त उन्हें अपने-परायेके सुख-दुःखका कोई भान नहीं रहा, अन्य कोई अनुभूति नहीं रही।

अस्तु, अब वककी क्या दशा हुई, यह देखें। बड़े उल्लाससे उसने नन्दपुत्रको ग्रास तो बना लिया। पर क्या वह इन्हें सचमुच निगल सकेगा? जिनकी एक आंशिक अभिव्यक्तिके लोमकूपमें असंख्य ब्रह्माण्ड धूलिकणकी भाँति विलीन होते रहते हैं, जो जगत्स्रष्टाके भी स्रष्टा हैं, उन स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको क्षुद्रातिक्षुद्र वकासुर उदरस्थ कर ले, यह सम्भव हो सकता है क्या? यह तो उनकी लीला-रसास्वादनकी अभिनवपद्धति ही है, जो वे स्वयं वकके मुखमें समा गये हैं। अन्यथा वक उन्हें स्वप्नमें भी स्पर्शमात्र कर ले, यह शक्ति भी उसमें कहाँ। जो हो, जब वे उसके मुखविवरमें गये हैं, तब अग्रिम लीलाक्रम भी होगा ही, श्रीकृष्णचन्द्र उससे खेलेंगे ही, खेलने ही लगे। यह देखो—अग्निज्वालाकी भाँति उत्ताप उसके तालुमूलमें, कण्ठदेशमें सृष्ट हो जाता है! उनके परम शीतल शंतम श्रीअङ्गोंका स्पर्श ही असुरके तालुमूलमें असह्य प्रदाह

उत्पन्न कर देता है। इतनी, ऐसी भीषण जलन होती है, मानो उसने भ्रान्तिवश एक ज्वलन्त लौहपिण्ड ही अपने चञ्चुपुटोंसे उठा लिया हो। श्रीकृष्णचन्द्रकी यह क्रीड़ा कितनी विचित्र है! जिनका एक नाम एक बार जिह्वाग्रपर आते ही नरककी भीषण ज्वाला सर्वथा शान्त हो जाती है, उनके ही परम शीतल चरणसरोजका स्पर्श पाकर वकका कण्ठ जलने लगता है! उसे इतनी असह्य वेदना होती है कि वह व्रजेन्द्रनन्दनको उगल देनेके लिये बाध्य हो जाता है, तुरंत उसी क्षण उन्हें उगल ही देता है। श्रीकृष्णचन्द्र बाहर आ जाते हैं। वकको विश्वास था—कण्ठ भले ही जले, पर उगलनेपर श्रीकृष्णचन्द्र तो निष्प्राण मांसपिण्ड ही बनकर उसके मुँहसे निकलेंगे; किंतु इससे विपरीत वे तो सर्वथा अक्षत निकले। वकके क्रोधकी सीमा नहीं रहती। अतिशय रोषमें भरा अपने चञ्चुप्रहारसे श्रीकृष्णचन्द्रको प्राणशून्य कर देनेके लिये वह पुनः उनके समीप आ जाता है—

तं तालुमूलं प्रदहन्तमग्निवद् गोपालसूनुं पितरं जगद्गुरोः।
चच्छर्द सद्योऽतिरुषाक्षतं बकस्तुण्डेन हन्तुं पुनरभ्यपद्यत॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ५०)

मूर्च्छित हुए उन गोपशिशुओंके विस्फारित नेत्र यह सब देख रहे हैं तथा जिस क्षण श्रीकृष्णचन्द्र बकके मुखसे बाहर निकले, उसी क्षण उन्हें अक्षत देखकर समस्त बालकोंकी ज्ञानशक्ति भी लौट आती है। पर क्रियाशक्ति अभी भी ज्यों-की-त्यों सुप्त है। जो हो, इधर श्रीकृष्णचन्द्रकी वकक्रीडाका उत्तर-अंश आरम्भ हो जाता है। भक्तगण-परिपालकने, देववृन्दोंके आनन्दविधायकने दृश्य बदल देना चाहा। अतः अब विलम्ब नहीं। यह लो, देखो, यशोदाके नीलमणिका दूसरा खेल! वे अत्यन्त निकट आ जाते हैं और वक दैत्यकी दोनों बृहत् चोंचोंको अपने नन्हे करपल्लवोंसे बलपूर्वक पकड़ लेते हैं। और फिर क्षणार्ध भी नहीं लगता, मानो वह वक दैत्य ग्रन्थिहीन एक तृणविशेष हो—इस प्रकार अनायास उसे बीचसे चीर डालते हैं—

तमापतन्तं स निगृह्य तुण्डयोर्दोर्भ्यां बकं कंससखं सतां पतिः।
पश्यत्सु बालेषु ददार लीलया मुदावहो वीरणवद् दिवौकसाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ५१)

प्रभु लीला-आसक्त वै लखि सिसु दुखी अपार।
कर-कमलन सौं चोंच गहि करे फका द्वै फार॥

आकाशसे सहस्र-सहस्र कुसुमोंकी वृष्टि होने लगती है। आनन्दप्रमत्त देवगण नन्दनकाननसे राशि-राशि जाती, यूथी, मधुमालती, चम्पक, नागेश्वर, मल्लिका आदि कुसुमोंका चयन कर श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीअङ्गोंपर वर्षा कर रहे हैं। वहाँकी समस्त वनस्थली दिव्य सौरभमय प्रसूनोंसे सम्पूर्णतया आस्तृत हो जाती है। साथ ही आनक, शङ्ख आदि दिव्य वाद्योंकी ध्वनिसे, देवकृत स्तवपाठके सुमधुर नादसे अन्तरिक्ष पूरित होने लगता है। पुनः-पुनः पुष्पवर्षण, वाद्यवादन, श्रीकृष्णस्तवनसे देवसमाज अपने त्राताकी आराधना करके भी आज अघाता जो नहीं। यह सब देख-सुनकर गोपशिशुओंको अतिशय विस्मय होने लगता है—

तदा वकारिं सुरलोकवासिनः समाकिरन् नन्दनमल्लिकादिभिः।
समीडिरे चानकशङ्खसंस्तवैस्तद् वीक्ष्य गोपालसुता विसिस्मिरे॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ५२)

किंतु अब वे देवोंके गान-वाद्यकी ओर देखें, यह समय नहीं रहा है। उनके प्राणाधार श्रीकृष्णचन्द्र बकासुरके कराल मुखसे मुक्त होकर उनके समीप आकर खड़े जो हो गये हैं। फिर तो जैसे मृत शरीरमें पुनः प्राण लौट आये हों, इस प्रकार एक साथ राम आदि सभी शिशुओंमें क्रियाशक्तिका संचार हो गया। इतना ही नहीं, उनका रोम-रोम उत्फुल्ल हो उठा। एक साथ सभी उठे, सबने श्रीकृष्णचन्द्रको अपने भुजपाशमें बाँध लिया। ओह! इस मिलनके समय जिस सुखकी अनुभूति इन गोपशिशुओंने की, उसे कौन बताये? कैसे बताये?

मुक्तं बकास्यादुपलभ्य बालका रामादयः प्राणमिवेन्द्रियो गणः।
स्थानागतं तं परिरभ्य निर्वृताः·····॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ५३)

दो खण्डोंमें विभक्त वकका मृत शरीर सामने

पड़ा है। स्वयं तो वह अनादि संसृतिके, भवप्रवाहके उस पार बहुत दूर जा पहुँचा है—

तदा मृतस्य दैत्यस्य ज्योतिः कृष्णे समाविशत्।

(गर्गसंहिता)

'उस मृत दैत्यकी ज्योति श्रीकृष्णके श्रीअङ्गोंमें प्रविष्ट हो गयी।'

सिद्ध तपोधन जाजलिकी बात आज सत्य हो गयी है। सुदूर अतीतका इतिवृत्त है। यही वक हयग्रीवपुत्र उत्कल दैत्य था। सुरराजका राजच्छत्र छीनकर, अनेक मर्त्य नरपालोंका राज्य अपहरणकर शासक बना था। एक दिन यह दुर्मदान्ध उत्कल असुरसमुदाय साथ लिये सिन्धु-सागरके संगमपर तपोनिधि जाजलिकी पर्णशालाके निकट जा पहुँचा। आश्रमकी मनोहर शोभाकी ओर इसकी दृष्टि नहीं गयी। इसने तो चञ्चल लहरियोंपर निर्भीक खेलते हुए मत्स्योंके प्राण लेने आरम्भ किये। बारंबार वडिश (मछली पकड़नेकी बंसी) फेंककर वह मत्स्योंको जलके बाहर खींच लेता, उनकी हत्यामें ही उसे रस आ रहा था। जाजलिने विनम्र शब्दोंमें निवारण किया। पर कौन सुनता है! आखिर मुनिसत्तम जाजलिके नेत्रोंमें रोषकी छाया-सी आयी। उनके मुखसे निकल पड़ा—'दुर्मते! बककी भाँति ही तो तू इन मत्स्योंका आहार करता है न? अच्छा जा, तू बगुला ही हो जा!' और तत्क्षण ही उत्कल तेजोभ्रष्ट होकर वक पक्षीके रूपमें परिणत हो गया। अब तो मदशून्य उत्कल जाजलिके चरणोंमें जा गिरा। मुनिका स्तवन करने लगा। जाजलि रुष्ट थोड़े ही थे, द्रवित हो गये और कह दिया—'वैवस्वत मन्वन्तर आयेगा, उसके अट्ठाईसवें द्वापरका अन्त आनेपर परिपूर्णतम साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र ही वृन्दाकाननमें वत्सचारण करते हुए विचरण करेंगे। उस समय श्रीकृष्णचन्द्रमें तुम्हें तन्मयताकी प्राप्ति होगी, इसमें तनिक भी संशय नहीं।' अस्तु, अश्रद्धा, अनादरपूर्वक एवं ऐसे अशुभ निमित्तसे प्राप्त महत् सङ्गका यह महान् फल उत्कलको मिला! कदाचित् श्रद्धा होती, आदर होता, दैवी सम्पदाका सम्बल साथ होता, फिर तो श्रीकृष्णचन्द्र उसे क्या देते—यह बताना कठिन है!

जो हो, इस समय गोपशिशुओंके प्राणोंमें कुछ ऐसा, इतना उत्साह है कि स्वयं वागीश्वरी भी उसे चित्रित नहीं कर सकतीं। आज उद्दाम क्रीड़ा नहीं, आज तो वन्य पुष्पोंसे नन्दनकाननके उन मल्लिका-यूथी-वैजयन्ती कुसुमोंसे, रक्त-पीत-उज्ज्वल-हरिताभ वनधातुओंसे श्रीकृष्णचन्द्रके अङ्गोंको सुसज्जित करनेकी और फिर उन्हें अङ्कमें भरनेकी होड़ लग रही है। आज उन सबकी बाल्योचित प्रतिभा भी सहसा इतनी विकसित हो गयी है कि देखकर आश्चर्य होता है। अपने प्राणसखाके शौर्य-वीर्यकी प्रशंसा करते-करते वे सब न जाने क्या-क्या कह रहे हैं। पर कुछ भी असम्बद्ध, असंगत नहीं; आज तो उनकी प्रत्येक उक्ति परम सत्यका निदर्शन बनती जा रही है। इस उमंगके प्रवाहमें दिन तो कबका ढल चुका है। वनसे प्रवाहित समीर संध्याकी सूचना देने आ गया है। श्रीकृष्णचन्द्र गोवत्सोंको एकत्रकर व्रजकी ओर चल भी पड़ते हैं। बालक भी साथ-साथ चले जा रहे हैं, किंतु इनका उत्साह शिथिल नहीं हो रहा है। आज प्रथम अवसर है कि प्रत्येक आभीर-शिशुके नेत्र आनन्दातिरेकसे रह-रहकर छलक उठते हैं। अपने मनकी बात श्रीकृष्णचन्द्रको सुनाते समय तो उनके दृगोंसे अश्रुका निर्झर झरने लगता है—

बका बिदारि चले ब्रज कौं हरि।
सखा संग आनंद करत सब, अंग-अंग बन-धातु चित्र करि॥
बनमाला पहिरावत स्यामहि, बार-बार अँकवार भरत धरि।
कंस-निपात करौंगे तुमहीं, हम जानी यह बात सही परि॥
पुनि-पुनि कहत—धन्य नँद जसुमति, जिनि इन कौं जनम्यौ, सा धनि धरि।
कहत हहै सब जात सूर-प्रभु, आनँद-आँसु ढरत लोचन भरि॥

वकासुर-संहारकी कथा सुनकर यशोदाके मनमें चिन्ता; व्रजमें सर्वत्र श्रीकृष्णलीलागान

गृहतोरणके समीप अपने हाथोंमें नीलमणि एवं बलरामके करपल्लव धारण किये व्रजेश्वरी खड़ी हैं तथा आभीर-शिशु उन्हें वनमें घटित आजकी घटना सुना रहे हैं—

मातः परं मातः परं कौतुकं कौ तु कं न विस्मापयति तत्। यदद्य सख्या स ख्यापितभुजपराक्रमः पराक्रमः कृतः। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'री मैया! इससे परे सुन्दर कौतुक और कोई हो ही नहीं सकता। यह पृथ्वीपर, भला, किसे विस्मित नहीं करेगा! आज हमारे सखा कन्हैयाने शत्रुपर ऐसे आक्रमण किया कि क्या बताऊँ! उस आक्रमणको देखकर ही हमलोगोंने जाना कि सचमुच कन्हैया भैयाकी भुजाओंमें कितना बल है!'

व्रजेश्वरीके नेत्रोंमें, मुखपर एक साथ भीति, उत्कण्ठा, अनिष्टाशङ्काकी छाया झलमल कर उठती है। क्षणभर पूर्व वनसे लौटे हुए नीलसुन्दरकी शोभा निहारनेमें ही मैयाके प्राण तन्मय हो रहे थे। किंतु गोप-शिशुओंके इन शब्दोंने वह एकाग्रता हर ली; प्राणोंमें स्पन्दन आरम्भ हो गया—पता नहीं क्या घटना हुई है। जननी पूरे मनोयोगसे शिशुओंकी बात सुनने लगती हैं। वे सब भी कहते ही जा रहे हैं—

निजमदपर्वतायमानं पर्वतायमानं सर्वानेव नो गिलितुमुद्यतमुद्यतं ज्वलन्तमिव पावकं वकं तीक्ष्णचञ्चुं चञ्चूर्यमाणं करसरोजाभ्यामाभ्यामाहितहेलं हेऽलंसुकृतिनि! तव कुसुमसुकुमारः कुमारः सपदि धीरणतृणमिव पाटयामास। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'देख मैया! तुम्हें बताऊँ—वह जो आया था, अपने गर्वोल्लासमें फूल रहा था, पर्वत-जैसा बगुला बना हुआ था, हम सबको निगल जानेके लिये उद्यत होकर आया था। मृत्यु उसके सिरपर नाच रही थी; इसीलिये आनन्द, शान्तिका लेश भी उस पक्षीमें नहीं था। री मैया, उसके अत्यन्त तीक्ष्ण चोंच थी, उस चोंचके कारण वह जलती हुई आगके समान बना हुआ था। टेढ़े-टेढ़े चलकर वह आ रहा था। किंतु मैया, री बहुपुण्यवती जननि! तेरे इस कुसुमसुकुमार नीलमणिने अपने इन्हीं हस्तकमलोंसे उस वकासुरको देखते-ही-देखते अनायास—जैसे कोई वीरण नामक तृणको बीचसे चीरकर फेंक दे, वैसे ही चीरकर फेंक दिया!'

बालकोंकी बात सुनकर व्रजरानीके मुखकी उत्फुल्लता जाती रहती है। निराशाभरी आँखोंसे वे पुरपुरन्ध्रियोंकी ओर देखती हुई कहने लगती हैं—

यदर्थमजहमहं बत! महावनावस्थितिं
तदेतदतिभीतिदं दितिजकृत्यमुन्मीलति।
अयं परमचञ्चलः परमसाहसोऽसाध्वसः क्व यामि
करवाणि किं हतविधेर्न वेद्मीहितम्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'आह! जिस कारणसे महावनका निवास छोड़कर आयी, वह यहाँ भी पीछे लगा ही रहा; यहाँ भी यह असुरोंका भयंकर उत्पात होने ही लगा। यह मेरा नीलमणि अतिशय चञ्चल है, अत्यन्त साहसी है, भय तो इसे छू नहीं गया है, किसीसे तनिक भी नहीं डरता (जहाँ चाहे चला जाता है, जिस किसी वस्तुको ही पकड़ लेता है)। हाय! कहाँ जाऊँ! क्या करूँ! पता नहीं, दुर्दैवकी क्या इच्छा है!'

—यह कहते-कहते अत्यन्त दुःखभारसे व्रजेश्वरीके नेत्र निमीलित हो जाते हैं। किसी अचिन्त्य प्रेरणावश गोप-शिशुओंके मुखसे यह बात सहसा स्पष्ट नहीं निकली कि वक श्रीकृष्णचन्द्रको निगल चुका था। अन्यथा व्रजेश्वरीके अन्तस्तलपर इस घटनाकी क्या कैसी प्रतिक्रिया होती, यह कहना कठिन है!

जो हो, विद्युत्की भाँति यह समाचार समस्त

व्रजपुरमें फैल जाता है। अपने जीवनसर्वस्व श्रीकृष्णचन्द्रको अतिशय निकटसे जाकर देख लेनेके लिये प्रत्येक गोप-गोपीके प्राण चञ्चल हो उठते हैं। नन्दभवनमें ही व्रजमण्डल एकत्र हो जाता है। बालक बार-बार उस घटनाका विवरण सबको सुना रहे हैं, सुन-सुनकर सभी आश्चर्य-विस्फारित नेत्रोंसे श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर ही देखने लगते हैं। व्रजेश्वर एवं उपनन्द आदि प्रमुख गोपोंने आदिसे अन्ततक—कैसे क्या-क्या हुआ—सब सुना। फिर तो सबकी अञ्जलि बँध जाती है, सभी अपने इष्टदेव श्रीनारायणके चरणोंमें श्रीकृष्णचन्द्रकी इस अप्रत्याशित रक्षाके लिये लुट पड़ते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रके सुकोमल अङ्गोंकी ओर दृष्टि जानेपर उन्हें विस्मय होता है—ओह! इस नन्हे-से नीलमणिने ऐसे दुर्दान्त दैत्यको अनायास चीर डाला! और जब वे वकके द्वारा श्रीकृष्णचन्द्रको निगल लिये जानेकी बात स्मरण करते हैं, तब उन्हें लगता है—आह! नीलमणि तो आज हमलोगोंको छोड़कर मानो दूसरे लोकमें चला ही गया था, श्रीनारायणदेवकी कृपासे ही लौटकर आ गया है—मृत्युकी छाया छूकर आया है। उनकी खोयी हुई परमनिधि उन्हें पुनः प्राप्त हो गयी है, नीलमणि उनके नेत्रोंके सामने पुनः सकुशल लौट जो आया है, उन्हें क्या नहीं मिल गया है!—प्रत्येक गोप-गोपीके अन्तस्तलका अनुराग उमड़ चलता है, सभी अतृप्त नयनोंसे श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देखते ही रह जाते हैं—

श्रुत्वा तद् विस्मिता गोपा गोप्यश्चातिप्रियादृताः।
प्रेत्यागतमिवौत्सुक्यादैक्षन्त तृषितेक्षणाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ५४)

जब भावप्रवाह किञ्चित् शिथिल होता है, तब गोपसमाजमें, गोपीमण्डलीमें यह चर्चा आरम्भ होती है—

अहो बतास्य बालस्य बहवो मृत्यवोऽभवन्।
अप्यासीद् विप्रियं तेषां कृतं पूर्वं यतो भयम्॥
अथाप्यभिभवन्त्येनं नैव ते घोरदर्शनाः।
जिघांसयैनमासाद्य नश्यन्त्यग्नौ पतंगवत्॥
अहो ब्रह्मविदो वाचो नासत्याः सन्ति कर्हिचित्।
गर्गो यदाह भगवानन्वभावि तथैव तत्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ५५—५७)

'अहो! कितने आश्चर्यकी बात है! अबतक इस बालकके लिये मृत्युके कारण तो बहुत-से उपस्थित हुए; पर हुआ यह कि जो इसका अनिष्ट करने आये, उन्हींका अनिष्ट हो गया। ऐसा इसीलिये हुआ कि उन सब-के-सबने यहाँ आनेसे पूर्व बहुत-से प्राणियोंका अनिष्ट-साधन करके अपने लिये भी पुष्कलमात्रामें अनिष्टका ही संचय कर लिया था—उनके पापका घड़ा भर जो चुका था। देखो तो सही, वे भयंकरमूर्ति राक्षस आते तो हैं, पर इस कुसुमसे भी सुकुमार नीलसुन्दरका बाल बाँकातक नहीं कर पाते। सब-के-सब इसका प्राण हरण करनेकी इच्छासे ही आते हैं; पर जहाँ इसके पास आये कि प्रज्वलित अग्निमें गिरे पतंगकी भाँति स्वयं नष्ट हो जाते हैं। ओह! वेदार्थ-तत्त्वज्ञोंके मुखसे निस्सृत वाक्य सचमुच कभी मिथ्या नहीं होते! भगवान् गर्गने जो कुछ कहा था, उसे ठीक ही घटित होते हमलोग देख जो रहे हैं।'

किंतु व्रजेश्वरीका ध्यान इस चर्चाकी ओर बिलकुल नहीं है। वे अपने नित्यकर्ममें व्यस्त हैं। कुछ क्षणतक तो मैया इस घटनासे अतिशय व्यथित होकर आँख बंद किये न जाने क्या-क्या सोचती रहीं; पर सहसा वनसे लौटे पुत्रका क्लान्त मुख उनके स्मृतिपथमें आया और वे प्रतिदिनकी भाँति नीलमणिके संलालनमें लग गयीं। अतिशय लाड़से गोप-शिशुओंको अपने-अपने घर भेज दिया। फिर अभ्यञ्जन, उद्वर्तन आदिसे नीलमणिकी, अग्रजकी श्रान्ति मिटाकर उन्हें ब्यारू करायी। यह हो जानेके अनन्तर वात्सल्यकी सहस्र-सहस्र धारासे नील-सुन्दरको अभिषिक्त करती हुई मैया उनसे कहने लगती हैं—

तात! गृह एव भवता स्थीयतां नातः परे वनान्तरे गन्तव्यम्। वत्स! वत्सरक्षणक्षणस्ते विरमतु वत्सरक्षणे बहवः सन्ति। किं तवामुनाऽऽयासेनेति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'मेरे लाल! अब तू घरपर ही रह। अब फिर कभी वनमें मत जाना। मेरे लाड़िले! वत्ससंलालनका तेरा सुख यहीं समाप्त हो। वत्सरक्षणके लिये बहुत-से गोप हैं ही। तेरे इस प्रकार कष्ट उठानेसे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? बस, अब बहुत हो चुका!'

श्रीकृष्णचन्द्र जननीकी यह उद्विग्नता देखकर अपने करपल्लवसे उनकी ठोड़ी स्पर्श करते हुए आश्वासन देने लगते हैं—

मातर्मा तव भयं किमपि ××× तदलं चिन्तयेति ×××।

'मैया, तेरे लिये कोई भी भयकी बात नहीं है! तू व्यर्थकी चिन्ता रहने दे।'

यह कहते-कहते ही श्रीकृष्णचन्द्रके नयनसरोजोंमें आलस्य भरने लगता है तथा जननी उन्हें परम सुन्दर शय्यातलपर शयन करा देती हैं।

इधर गोपसमाजमें, गोपीसमुदायमें श्रीकृष्णचन्द्रकी चर्चा समाप्त नहीं हुई है। स्वयं व्रजेश्वर एवं उपनन्द आदि प्रमुख गोप भी अन्य समस्त कृत्य भूलकर सबकी बातें सुन रहे हैं तथा स्वयं भी घटनाक्रमके किसी अज्ञात एवं स्खलित अंशकी पूर्ति कर दे रहे हैं। पूतना, शकट, तृणावर्त, यमलार्जुनपतन, वकविपाटन आदि समस्त लीलाकथाओंकी, इनसे सम्बद्ध क्षुद्र-से-क्षुद्र नगण्यतम घटनावलियोंकी पुनः-पुनः आवृत्ति करनेमें इस आभीरकुलको इस समय क्षण-क्षणमें नवीन उत्साहकी अनुभूति हो रही है। आज तो अभी-अभी विशिष्ट घटना घटित हुई है, बकको चीरकर श्रीकृष्णचन्द्रने सबको आश्चर्यचकित कर दिया है। ऐसे निमित्तसे श्रीकृष्णचरित्रकी चर्चा चले, इसमें क्या बड़ी बात है। यह तो व्रजेश्वरसे लेकर जनसाधारणतक—समस्त पुरवासियोंकी जीवनचर्याका प्रमुख अङ्ग है, उनका व्यसन है। इससे उपरति, तृप्ति उन्हें कभी होती ही नहीं। सजलनेत्र हुए अश्रुपूरित कण्ठसे श्याम-बलरामके चारुचरित्रोंका गान पुरवासियोंके प्राणोंका आधार है। यह किये बिना उनके लिये प्राण-धारण सम्भव नहीं। व्रजमण्डलमें, नन्दव्रजमें, वृन्दाकाननमें नन्दनन्दनकी तथा रोहिणीतनयकी कथासुधा सतत प्रसरित होती रहती है, उसीमें अवगाहन करते, उसीमें निरन्तर निमग्न हुए पुरवासियोंको भववेदना स्पर्शतक नहीं कर पाती, कथामृतसिन्धुमें डूबे हुए इस आभीरसमाजको भवदुःखदावानल दग्ध नहीं कर सकता, इस ज्वालाकी छाया भी उन्हें छू नहीं सकती—

इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा।
कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ५८)

इसमें कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है—

तादृग्रमेशचरितं श्रुतिमात्रवेद्यं
यस्यास्ति सोऽपि भवदुःखलवं न वेत्ति।
चित्रं किमत्र स च तच्चरितं च येषा-
मध्यक्षमास न विदुर्भववेदनां ते॥

(भक्तिरसायन)

'रमावल्लभ श्रीकृष्णचन्द्रके ऐसे चरित्रोंको जो केवल सुनतेमात्र हैं, जिन्हें अनुभव नहीं, केवल श्रवणमात्रसे ही होनेवाला लीलासम्बन्धी ज्ञान जिनके पास है, उनके लिये भी भवदुःखका लेशतक नहीं रहता—लीलाश्रवणकी इतनी महिमा है। फिर यहाँ तो व्रजपुरवासियोंके नेत्रोंके सामने वे श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं विराज रहे हैं, एवं श्रीकृष्णचरित्रका प्रत्यक्ष प्रवाह बह रहा है। अब इन पुरवासियोंको यदि भववेदनाकी अनुभूति नहीं होती तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?'

इस व्रजपुरमें जबसे श्रीकृष्णचन्द्रका अवतरण हुआ है, तबसे उनके महामरकत-श्यामल अङ्गोंसे लीलाका नवीन नूतन स्रोत क्षण-क्षणमें झरता रहा है। प्रत्येक गोप-गोपीके अन्तस्तलमें उसकी एक-एक बूँद संचित होती रहती है और फिर प्रत्येक बिन्दु गीतके रूपमें मूर्त हो जाता है। प्रत्येक रजनीका विराम होते ही गोपेन्द्र एवं अन्यान्य समस्त गोप तो नित्यकर्ममें संलग्न होते हैं; और गोपेन्द्रपरिचारिकाएँ, गोपसुन्दरियाँ वास्तुपूजन कर अपने कङ्कणभूषित करोंसे दधिमन्थन

आरम्भ करती हैं। उस समय प्रत्येक गृहमें, प्रत्येक गोपीके अधरोंपर श्रीकृष्णलीलागानकी लहरें उठती रहती हैं। गीतकी यह अनर्गल धारा व्रजराजके, व्रजमण्डलवासी समस्त गोपोंके कर्णरन्ध्रोंमें प्रविष्ट हो जाती है। किसी गोपीके मानसपथमें श्रीकृष्णचन्द्र पालने झूल रहे हैं। गोपी उसे निहारकर आनन्दनिमग्न हो रही है। यह अपरिसीम आनन्द अन्तर्देशमें सीमित रह जो नहीं सकता। गीत बनकर बाहर लहराने लग जाता है, गोपी गाने लग जाती है—

नंद कौ लाल ब्रज पालनें झूलै।

कुटिल अलकावली, तिलक गोरोचना, चरन अंगुष्ठ मुख किलकि फूले॥
नैन अंजन रेख, भेख अभिराम-सुठि, कंठ केहरि नख, किंकिनी कटि-मूले।
नंददासनि नाथ नंद-नंदन कुँवर निरखि नागरि देह गेह भूले॥

कहीं किसी दूसरी गोपीके मानसतलमें नन्दनन्दनके जन्ममहोत्सवका राग-रंग भर रहा है, उत्सवका साक्षात्कार कर वह फूली नहीं समा रही है, उसके प्राणोंकी उमंग शब्दोंका आकार धारणकर बाहर प्रसरित होने लगती है—

माई! आज गोकुल गाम कैसौ रह्यौ फूलि कै।
गृह फूले दीसें, जैसैं संपति समूल कै॥
फूली-फूली घटा आई, घरहर घूमि कै।
फूली-फूली बरषा होति, झर लायौ झूमि कै॥
फूलौ-फूलौ पुत्र देखि, लियौ उर लूमि कै।
फूली हैं जसोदा माइ, छोटा-मुख चूमि कै॥
देवता-अगिनि फूले, घृत-खाँड़ होमि कै।
फूल्यौ दीसै दधिकाँदौ, ऊपर सो भूमि कै॥
मालिन बाँधै बँदनमाल, घर घर डोलि कै।
पाटंबर पहिराइ राइ, अधिकै अमोल कै॥
फूले हैं भँडार सब, द्वारे दिये खोलि कै।
नंद दान देत फूले, 'नंददास' बोलि कै॥

इस प्रकार गोपीमुखनिस्सृत लीलागानकी अनन्त धाराएँ दसों दिशाओंको परिव्याप्त कर देती हैं। गोपोंके कर्णपुट इनसे पूरित होने लगते हैं। इनका उन्मादी प्रभाव वयोवृद्ध गोपोंतकको चञ्चल कर देता है। गोष्ठ जाकर गोदोहन, गोसंलालन आदिमें लगे हुए गोप-समाजका मन—और तो क्या, भुवनभास्करको अर्घ्य समर्पित करते हुए परम निष्ठावान् स्वयं व्रजराजका मन भी इस प्रवाहमें बरबस बह चलता है। गोपोंके द्वारा गोसंलालन, गोदोहन तो होते हैं, पर होते हैं यन्त्रवत् और मन तन्मय होने लगता है उन्हींके मुखसे स्वतः प्रस्फुरित लीलागानमें। व्रजेन्द्रको भी अर्घ्यकी, अर्घ्यके मन्त्रकी सर्वथा विस्मृति है; केवल क्रियामात्र सम्पन्न हो रही है; चित्तवृत्ति तो कबकी विलीन हो चुकी है पुरसुन्दरियोंके कलकण्ठनिर्गत श्रीकृष्णचरित्रगानमें। स्वयं व्रजेशकी वाणी भी वैसे ही किसी गीतकी आवृत्ति करने लगती है।

जहाँ कहीं जब कभी भी कोई गोपसमुदाय एकत्र होता है, वहाँ उस समय चर्चा आरम्भ होती है श्रीकृष्णचरित्रसे ही, तथा आरम्भ होनेके अनन्तर उसका विराम कहाँ? क्योंकि इस समुदायका प्रत्येक सदस्य अपने हृदेशमें किसी एक परम सरस स्रोतका ही अनुसरण करते हुए लौटता है। ऊपरसे भले प्रतीत हो कि चर्चा स्थगित हो गयी, पर यह तो मन्दाकिनीकी वह सरस धारा-जैसी है, जो सघनवनकी ओटमें विलुप्त हो जाती है और फिर आगे जाकर अनुकूल धरातलपर पुनः व्यक्त हो जाती है। गोप भावशाबल्यवश एक बार मौन हो जाते हैं, चल पड़ते हैं अपनी गन्तव्य दिशाकी ओर। पर कुछ दूर अग्रसर होनेपर पुनः उद्दीपनकी कोई-न-कोई वस्तु स्पर्श करती ही है और पुनः श्रीकृष्णचन्द्रके चरित्रोंका चित्रण चल पड़ता है। भला, ऐसे लीलारसमत्त आभीरसमाजको भववेदना स्पर्श करे तो कैसे करे? वहाँ उनकी चित्तभूमिमें अन्य भावना, अन्य अनुभूतिके लिये स्थान जो नहीं रहा!

और वास्तवमें तो यह भववेदनाका प्रश्न भी बहिरङ्गदृष्टिसे ही है। अनन्तैश्वर्यनिकेतन नराकृति परब्रह्म पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनके ये लीलापरिकर—नन्ददम्पति, व्रजगोप, गोपसुन्दरियाँ, गोपशिशु आदि सब भवाटवीमें भ्रमण करनेवाले जीव तो हैं नहीं

जो भववेदना उन्हें छू सके। ये तो सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्णचन्द्रके अनादिसिद्ध स्वरूपभूत परिकर हैं, सत्त्व-रज-तमोमयी प्रकृतिसे अत्यन्त परेकी वस्तु हैं। इन्हें प्राकृत सृजनका कम्पन उद्वेलित नहीं करता, संहारकी छाया नहीं छूती। अपनी ही महिमामें स्थित स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके साथ ही इनका नित्यनिवास है, एवं इनको सदा साथ लिये ही श्रीकृष्णचन्द्रकी नित्यलीला अखण्डरूपसे चलती रहती है, अनादिकालसे चल रही है, अनन्तकालतक चलती रहेगी। यहाँ इस लीलामें क्षुधा-पिपासा, शीत-उष्ण, सुख-दुःख, हास्य-क्रन्दन, जो कुछ भी है, वह सत्त्व, रज, तम—इन त्रिगुणकी परिणति नहीं, अपितु सब-के-सब सच्चिदानन्दमय हैं, सच्चिदानन्दसिन्धुकी लोल लहरियाँ हैं; इनपर खेलते हुए, इनका रस लेते हुए श्रीकृष्णचन्द्र कभी-कभी प्रापञ्चिक जगत्में भी इसकी एक-दो बूँद बिखेर देते हैं—प्रापञ्चिक जगत्में इस चिन्मयी लीलाका प्रकाश कर देते हैं। प्रापञ्चिक स्तर इस चिद्वैभवको स्पर्श तो नहीं करता, स्पर्श कर सकता ही नहीं, प्रकाशके समय भी यह प्रपञ्चसे अत्यन्त सुदूर ही, अतिशय पृथक् ही स्थित है। फिर भी अचिन्त्य सौभाग्यवश, एकमात्र भगवत्कृपाको ही जीवनका सारसम्बल बनानेवाले जो प्राणी इसका साक्षात्कार करते हैं, उनके अनादि संसरणकी इति हो जाती है और वे अपने अधिकारके अनुरूप इसमें यथायोग्य यथासमय स्थान पाते हैं, आगे भी इस प्रकाशके अन्तर्हित हो जानेके अनन्तर भी साधनाका आदर्श, साधनका स्वरूप प्राप्त होता रहता है, जिसका अनुसरण कर अगणित प्रपञ्चरत प्राणी अपने परम निःश्रेयसका मार्ग प्रशस्त करते हैं। ऐसे इस दिव्यातिदिव्य चिन्मय साम्राज्यके परिकरोंमें भववेदनाका सचमुच प्रश्न ही कहाँ बनता है? यह तो श्रीकृष्णचन्द्रकी चिन्मयी लीलामें प्रपञ्चगत भावोंका साम्य देखकर होनेवाली शङ्काका एक बहिरङ्ग समाधान है। साथ ही त्रितापदग्ध प्राणियोंके लिये एक सुन्दर संकेत है—जीवो! क्यों जल रहे हो? श्रीकृष्णलीलारस-मन्दाकिनीके इस पुनीत प्रवाहमें तुम भी इन गोपोंकी भाँति अवगाहन करो, तुम्हें शाश्वती शान्ति सहजमें प्राप्त हो जायगी!

अस्तु, आज एक प्रहर निशा व्यतीत हो चुकी है। व्रजेश्वरी तो शयनागारमें पुत्रोंको लिये, उन्हें सुलाकर स्वयं अनिद्रित रहकर चिन्तामें निमग्न हैं। उन्हें एक ही चिन्ता हो रही है—'जिस किस प्रकारसे हो, नीलमणि यदि वन जानेका हठ छोड़ दे तो कितना सुन्दर हो! क्या उपाय करें? नीलमणिको कैसे समझायें?' और इधर व्रजेश्वर अभी भी गोपसभामें विराजित हैं, राम-श्यामकी चर्चा करनेमें, सुननेमें तन्मय हो रहे हैं; किंतु अब अतिकाल जो हो रहा है, नारायण-मन्दिरमें शयन-नीराजनका समय हो चुका है। परिचारिकाके द्वारा स्मरण दिलानेपर व्रजेश्वर सभा विसर्जितकर मन्दिरकी ओर चल पड़ते हैं; किंतु अभी-अभी श्रीकृष्णचरित्र-चित्रण-श्रवणसे प्राप्त सुखकी अमिट स्मृति साथ लिये जा रहे हैं। वास्तवमें यह सुख है ही अप्रतिम, इसकी अन्यत्र कहीं तुलना जो नहीं।—

जो सुख होत गोपालहि गाऐं।
सो नहिं होत किऐं जप-तप के कोटिक तीरथ न्हाऐं॥
दिऐं लेत नहिं चारि पदारथ, चरन-कमल चित लाऐं।
तीनि लोक तृन सम करि लेखत, नँदनंदन उर आऐं॥
बंसीवट, बृंदाबन, जमुना तजि बैकुंठ को जाऐं।
सूरदास हरि कौ सुमिरन करि, बहुरि न भव चलि आऐं॥

वनमें बलराम-श्रीकृष्णकी गोप-बालकोंके साथ निलायन-क्रीडा—लुकाछिपीका खेल; व्योमासुरका वध

'महाबली वकासुरको वीरण तृणकी भाँति चीरकर फेंक दिया गया'—चरोंके द्वारा यह समाचार मधुपुर-सम्राट् कंसको भी मिला। मानो किसीने एक साथ सहस्र शूल चुभोकर हृदयको छिन्न-भिन्न कर डाला—ऐसी मार्मिक वेदनासे कंसके प्राण कराह उठे। वत्सनिधनकी बात सुनकर तो वह चेतनाशून्य हो गया था, मूर्च्छाने कुछ कालके लिये उसकी वेदना हर ली थी। किंतु इस बार प्राणोंमें टीस चलते रहनेपर भी वह सजग बना रहा। रह-रहकर सिंहासनसे उठ खड़ा होता एवं उसके नेत्र नीलाभ गगनतलकी ओर लग जाते। कहींकी भी नीलिमा उसके लिये भयकी वस्तु बन गयी थी; उसने सुन जो रखा था—'वह नन्दपुत्र श्यामलवर्ण है।' और इसीलिये ऐसे किसी प्रसङ्गपर उसकी दृष्टि ऊपरकी ओर केन्द्रित हो जाती—'क्या पता, वह उस नीले आकाशमें ही समाया हो, मेरे प्राण लेनेके उद्देश्यसे इस नीलिमाकी ओटमें ही कहीं छिपा हो।' तथा उस समय उसकी भावना भयवश ही मूर्त भी होने लगती; उसे प्रतीत होने लग जाता—एक नहीं, अनेकों श्यामशिशुओंसे आकाश परिव्याप्त है। फिर तो उसकी आँखें जहाँ जातीं, वहीं उसे नन्दपुत्रके दर्शन होते तथा वह अतिशय उद्विग्न होकर सोचने लगता—'क्या करूँ, किधर जाऊँ, कैसे इस श्यामशिशुका अन्त हो। इस समय भी—वकविपाटनकी घटना सुनकर—एक ओर तो वह दुःखभारसे पिसने लगा और उधर उसे दीखने लगे नन्दनन्दन—सर्वत्र सब ओरसे। मृत्युके भयसे उसके प्राण चञ्चल हो उठे।

अस्तु, क्रमशः भयकी वृत्ति शिथिल हुई, दुःखका आवेग भी कम पड़ने लगा। और तब आसुरी विवेक उत्पन्न हुआ। कंस वस्तुस्थितिके विश्लेषणमें लगा। वह सोचता जा रहा है—

हन्त! सर्व एव मायातिरिक्तताप्रयोक्तारस्तत्र रिक्तीकृताः।
सर्वं लुम्पन्तस्ते चुलुम्पामासिरे च।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'हाय रे! ऊँचे-से-ऊँचा मायाजाल बिछानेवाले इन सब दैत्योंकी माया वहाँ—उस नन्दव्रजमें, झाड़ ली गयी—सब-के-सब वहाँ जाकर खप गये। जो सबको छिन्न-भिन्न करनेवाले थे, वे वहाँ स्वयं नष्ट हो गये।'

'तो क्या मेरे जीवनकी आशा समाप्त हो चुकी?' कंसके भालपर स्वेदकण झलक उठे। इसी समय सहसा—जैसे किसीने स्मृति जगा दी हो, इस भाँति—उसे मयपुत्र व्योमासुरका स्मरण हो आया। यह व्योम त्रिशृङ्गशिखरपर युद्धमें कंससे पराजित हुआ था, आत्मसमर्पण करते हुए इसने कंसकी दासता स्वीकार की थी और तबसे नित्य सहचर बनकर व्योमने कंसका सिर ऊँचा किया था। ऐसे स्वामिभक्त शूरवीर सेवककी स्मृति कंसकी क्रूर आँखोंमें आसुरी उल्लास भर देती है। अब उसे अग्रिम कर्तव्यका निर्णय करनेमें विलम्ब नहीं होता। संकल्प-विकल्पकी आँधी इस निम्नोक्त निश्चयको छूकर शान्त हो जाती है—

तर्हि व्योमाभिधानदानवमात्रमत्र पात्रं पश्यामः।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'तब तो एकमात्र व्योमनामक दानव ही इस कार्यके लिये उपयुक्त पात्र दीखता है।'

सर्वमायामयमयतनयः प्रख्यातबलवलयः स हि महीयान्।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'सब प्रकारकी मायामें परम निष्णात महामायावी मयदानवका यह पुत्र व्योम प्रख्यात बलवान् है। निस्संदेह वह इस कार्यके लिये सर्वश्रेष्ठ है।'

कंसका यह निश्चय तुरंत कार्यान्वित भी हो गया—

इति पद्मावतीजरठजठरजन्मा सम्माननया तमानाय्य तत्कार्याय पर्यापयामास।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'पद्मावतीके कठिन कोखसे जन्म धारण करनेवाले कंसने बड़े सम्मानसे व्योमासुरको बुलवाकर उस कार्यके लिये—व्रजेन्द्रनन्दनके प्राण अपहरण करनेके लिये उसे व्रजकी ओर भेजा।'

अस्तु, कंसप्रेरित व्योम चला वृन्दाकाननकी ओर, जहाँ श्रीकृष्णचन्द्रकी परम मनोहर लीला सतत चलती ही रहती है। इस समय भी चल रही है। सदाकी भाँति सखापरिवेष्टित होकर असंख्य गोशावकोंको साथ लिये हुए वनमें आये हैं। वनकी अधिदेवी प्रतिदिन ही उनके लिये काननको अभिनव साजसे सज्जित करती हैं। आज भी सजा रखा है। और अब तो काननपर ऋतुराज वसन्तका आधिपत्य आरम्भ हो गया है। फिर तो अरण्यकी सुषमाका कहना ही क्या है। मुकुलित आम्रशाखापर कोकिल-कण्ठसे निस्सृत 'कुहू-कुहू' का गान, पुष्पित द्रुम-वल्लरियोंपर भ्रमर-गुञ्जन—मानो श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनसे वनाधिदेवीका आन्तरिक आह्लाद ही उनके रोम-रोमसे ध्वनित हो रहा हो। मलयमारुतके स्पर्शसे झूमती लताओंकी ओटमें अपने हाथ नचा-नचाकर वे श्रीकृष्णचन्द्रको जैसे संकेत कर रही हों—व्रजजीवन! इधर देखो, आज मूर्तिमती वासन्तीश्री तुम्हारा अभिनन्दन कर रही हैं, इनकी ओर निहारकर सेवा स्वीकार कर लो, श्रीकृष्णचन्द्र! मेरे इस वनमें ही इनका नित्य निवास है, पर रमणीसुलभ लज्जावश ये किसीके सामने अधिक कालतक टिक नहीं पातीं। आज मेरे कहनेसे, साथ ही तुम्हारा वियोग असह्य हो जानेके कारण सर्वाङ्ग-विभूषित होकर तुम्हारे समक्ष आयी हैं। हे मेरे वनचन्द्र! एक बार अपनी दृष्टि डालकर इनके शृङ्गारको सफल कर दो। देखो तो सही, तुम्हारे लिये आज इन्होंने अपनेको कितना सुन्दर सजाया है। पुन्नाग-पुष्पोंका तो अवतंस धारण किया है। माधवी कुसुमोंकी माला धारण की है। बकुलनिर्मित गुच्छार्द्ध नामक हार पहन लिया है। अपने ललाटदेशमें पलाशपुष्पोंमें सिन्दूरकी रचना की है। वक्षःस्थलपर चम्पककी कञ्चुकी सुशोभित है। कटिदेश अशोकके अरुण परिधान-वस्त्रसे विभूषित है। अहा, देखो ये कैसी अद्भुत शोभाका विस्तार करती हुई व्यक्त हुई हैं—

पुन्नागैरवतंसनं विदधती वासन्तिकाभिः स्रजं
गुच्छार्द्धं बकुलैर्ललाटफलके सिन्दूरकं किंशुकैः।
चम्पेयैः कुचकञ्चुकं कटितटे शोणाम्बरं वञ्जुलै-
र्नित्यं मूर्तिमती सती विजयते श्रीर्यंत्र पौष्पाकरी॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अस्तु, इस वासन्तीश्रीसे विभूषित परम रमणीय वृन्दावनमें श्रीकृष्णचन्द्रका विहार हो रहा है। पहले तो अरण्य-शोभानिरीक्षणका कार्य हुआ, फिर गोवत्स-संचारण-संलालनका। और अब परम अद्भुत निलायनकी क्रीड़ा आरम्भ हुई है। प्रस्ताव गोपशिशुओंका था तथा श्रीकृष्णचन्द्रका तो नित्य समर्थन है ही। इस खेलमें चोर एवं रक्षकका अभिनय होगा। श्रीकृष्णचन्द्र एवं उनके सखा लुका-छिपीका खेल खेलेंगे। कुछ गोपशिशु चोर बने, कुछ भेड़ चरानेवाले बने और कुछ भूमिपर हाथ टेककर भेड़ बननेका अभिनय करने लगे। इस प्रकार गिरिराज गोवर्द्धनपर श्रीकृष्णचन्द्रका, गोपशिशुओंका स्वच्छन्द विहार आरम्भ हुआ, निर्भय होकर सभी खेलने लगे—

एकदा ते पशून् पालाश्चारयन्तोऽद्रिसानुषु।
चक्रुर्निलायनक्रीडाश्चोरपालापदेशतः॥
तत्रासन् कतिचिच्चोराः पालाश्च कतिचिन्नृप।
मेषायिताश्च तत्रैके विजह्रुरकुतोभयाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३७। २७-२८)

व्योम यहाँ उसी समय आता है जब कि श्रीकृष्णचन्द्र एवं उनकी सम्पूर्ण मण्डली परमानन्दमें निमग्न होकर इस निलायनक्रीडामें तन्मय हो रही है। वह आकर, आकाशपथमें ही स्थित रहकर व्रजेन्द्रनन्दनकी यह लीला देखने लगता है। लीला क्या है, व्योमको यह समझते देर नहीं लगती। उसने देख लिया—श्रीकृष्णचन्द्र रक्षक-पक्षमें हैं और यह भेड़-अपहरण-रक्षणकी क्रीड़ा चल रही है। फिर तो नन्दनन्दनकी ओर ही व्योमकी दृष्टि केन्द्रित हो जाती है और वह सोचने लगता है—

अयं तु तत्पोषकायमाणः श्यामधामा कुमारः प्रभाकरसहस्रप्रभावभाविततया नास्मद्विधसंविधेय-संनिधानस्तवर्यते। तथाप्यस्माकमयमेवावसरो वरो नाम यो वरणीयतामनुसरति। अत्र हि तस्य निरवधानस्य बहिश्चरप्राणतुलां वलमाना बालका विनैवात्तिं हर्तव्या

भवेयुः। ततो व्यग्रीभूतः सोऽयमग्रीयश्च विना विग्रहं ग्रहीतव्यतामृच्छेत्। (श्रीगोपालचम्पूः)

'ओह ! यह तो—जो भेड़ोंका रक्षक बना हुआ श्यामज्योति कुमार है—सहस्र सूर्योंके प्रभावसे परिव्याप्त दीखता है; हमारे-जैसे दैत्य अपने स्वाभाविक रूपसे इसके समीप भी जा सकें, यह सम्भव नहीं। फिर भी हमारे लिये तो यही अवसर श्रेष्ठ है। ऐसा दूसरा अवसर फिर मिलनेका ही नहीं। इस समय इस नन्दपुत्रका, कहाँ क्या हो रहा है—इस ओर ध्यान ही नहीं है। बस, इस असावधान श्यामशिशुके साथवाले बालकोंको—जो इसके बाहर संचारित प्राणके तुल्य बने हुए हैं—अनायास हर लिया जाय। यह हुआ कि फिर तो सखा-वियोगसे व्याकुल होकर इन सबका अगुआ यह श्रेष्ठ बालक भी बिना किसी लपट-झपटके ही मेरी पकड़में आ जायगा।'

व्योमने अविलम्ब अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया। उस महामायावीने देखते-देखते ही चोर बने हुए गोप-शिशु-जैसा अपना रूप भी बना लिया—

मयपुत्रो महामायो व्योमो गोपालवेषधृक्।

(श्रीमद्भा० १०। ३७। २९)

—तथा फिर उसी क्रीड़ामण्डलीमें जाकर सम्मिलित हो गया।

गोपशिशुओंने सर्वथा नहीं जाना। बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्र भी क्रीड़ारसपानमें निमग्न हैं। इन सबकी अनजानमें ही व्योमासुर अपनी नृशंस योजनामें प्रवृत्त हो गया; जो करना चाहता था, करने लगा—

मेषायितानपोवाह प्रायश्चोरायितो बहून्॥
गिरिदर्यां विनिक्षिप्य नीतं नीतं महासुरः।
शिलया पिदधे द्वारं चतुःपञ्चावशेषिताः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३०। २९-३०)

'इस खेलमें वह प्रायः चोरपक्षका ही बालक बना रहा तथा भेड़ बने हुए बालकोंको बारम्बार अपहरण कर दूर ले जाने लगा। इतना ही नहीं, वह महादानव उन हरे हुए बालकोंको क्रमशः पर्वतकी एक कन्दरामें डालता जाता तथा डालकर कन्दराके द्वारको शिलासे ढक देता। यहाँतक कि उसने प्रायः सबको हर लिया, सबकी वही गति की। यहाँ खेलमें तो, बस, चार-पाँच बालक ही बच रहे।'

इस प्रकार मायावी दैत्यकी माया एक बार तो सफल-सी हो गयी। व्योमके सुखका पार नहीं। किंतु यह देखो, सहसा अनन्तैश्वर्यनिकेतन, बाल्य-क्रीड़ारसमत्त स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र खेलसे उपरत हो गये—नहीं-नहीं, उनकी सर्वज्ञताशक्तिने अचिन्त्यलीलामहाशक्तिका संकेत पाकर अपनी सेवा समर्पण करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रको जगा दिया; जगाकर निवेदन कर दिया—'लीलाविहारिन्! यह सम्मुखवर्ती गोपशिशु वास्तवमें गोपशिशु नहीं, यह तो महामायावी व्योमासुर है।' अब, भला, श्रीकृष्णचन्द्र खेलमें निमग्न रहें—यह कैसे सम्भव है।

जो हो, फिर तो क्षण भी नहीं लगा। व्योमके कुकर्मसे परिचित होते ही भक्तवत्सल भगवान् भी सचेष्ट हो गये, संतोंके एकमात्र शरण स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी—वहाँ उस निलायनक्रीड़ाके स्थानपर ही असुरसंहारलीला आरम्भ हो गयी। उस समय भी व्योम कुछ गोपशिशुओंको लिये ही जा रहा था। उसी स्थितिमें श्रीकृष्णचन्द्रने उसे—जैसे केहरी वृक-(भेड़िये)-को दबोच ले, ऐसे वेगसे—पकड़ लिया, अपने उन्हीं सुकोमलतम करपल्लवोंसे, जिनसे क्षणभर पूर्व मेष बने हुए शिशुओंके संरक्षणकी लीला दे कर रहे थे—

तस्य तत् कर्म विज्ञाय कृष्णः शरणदः सताम्।
गोपान् नयन्तं जग्राह वृकं हरिरिवौजसा॥

(श्रीमद्भा० १०। ३७। ३१)

दैत्यके लिये अब छूटनेका प्रयास व्यर्थ है। पर जीवन सबको अतिशय प्रिय होता है। उस महाबलवान् दैत्यने अपना अत्यन्त विशाल पर्वतसदृश शरीर प्रकट किया। फिर भी उन्हीं लघु-लघु करसरोजोंकी चपेटसे, छूटनेकी बात तो दूर, व्योमका अङ्ग-अङ्ग कड़क उठा; वह अतिशय व्याकुल हो गया। अपनी समस्त शक्तिका प्रयोग कर उसने श्रीकृष्णचन्द्रके हाथोंसे अपने-आपको छुड़ा लेनेकी चेष्टा की, पर छुड़ा सका नहीं—

स निजं रूपमास्थाय गिरीन्द्रसदृशं बली।
इच्छन् विमोक्तुमात्मानं नाशक्नोद् ग्रहणातुरः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३७। ३२)

महा कठिन विकराल रूप तिहि प्रभुति बताइब।
कोटिनि करत उपाइ, हाथ नहिं छुटत छुटाइब॥
सिंघ दसन गज गहिब कहहु किमि उकढ सुजाई।
खगनायक की चुंच बिधिब अहि किमि भगि जाई॥
यह 'मान' कहतु छूटइ सुकिमि बज्रमूठि प्रभु तिहि धरिब।
उलछार पछारिब असुर कौं, दै चिकार धरपर परिब॥

देखते-ही-देखते श्रीकृष्णचन्द्रने उसे दोनों हाथोंसे पकड़कर पृथ्वीपर गिरा दिया। दैत्यके नासाछिद्र, मुखविवरपर अपनी अँगुलियाँ रख दीं, इतनेसे ही व्योमका श्वास रुद्ध हो गया और फिर निमेष गिरते-न-गिरते उसकी ग्रीवा मरोड़कर उसे नीचे एक शिला-खण्डपर पटक दिया। अन्तरिक्षचारी देवगण यह सब देख रहे हैं—

तं निगृह्याच्युतो दोर्भ्यां पातयित्वा महीतले।
पश्यतां दिवि देवानां पशुमारममारयत्॥

(श्रीमद्भा० १०। ३७। ३३)

किंतु अब यहाँ पलभरका भी विलम्ब न कर श्रीकृष्णचन्द्र शिशुओंका अपहरण कर ले जाते समय उभरे हुए व्योमके पदचिह्नोंका अनुसरण करते हुए उसी दिशामें चल पड़ते हैं; सर्वज्ञ सर्ववित्को यह आज पता जो नहीं कि यह दुष्ट दानव उनके सखाओंको कहाँ ले गया! ऐसी शक्तिका उन्मेष तो हुआ था केवलमात्र व्योमके संहारके लिये। अब तो श्रीकृष्णचन्द्र पुनः बाल्यावेशकी सुमधुर धारामें ही अवगाहन करते जा रहे हैं, पदचिह्नोंके सहारे सखाओंको ढूँढ़ लानेके उद्देश्यसे अतिशय व्याकुल हुए दौड़े जा रहे हैं!

गिरिगुहाके निकट जाकर श्रीकृष्णचन्द्रने देखा—एक शिलासे द्वार रुद्ध है। फिर तो उनके नेत्र छल-छल कर उठते हैं, सख्यस्नेहकी सरिता लहराने लगती है। उनकी एक मुट्ठीकी चोटसे शिला तो चूर्ण-विचूर्ण हो जाती है और वे कन्दराके अन्तर्भागमें प्रविष्ट हो जाते हैं। ओह! वहाँका करुण दृश्य! कदाचित् क्षणभरका विलम्ब और हुआ होता·····! अब तो श्रीकृष्णचन्द्र आ गये, गोपशिशुओंने उनको आये देख लिया और फिर उनके प्राण अन्तिम दशाको छूते रहनेपर भी खिंचकर लौट आये, उनमें प्राण-संचार हो गया!—

दृष्ट्वाकस्मादेनमेते बकारिं प्राणान् प्रान्तकर्षणेनैव जग्मुः।

(श्रीगोपालचम्पूः)

प्राण लौट आये तथा श्रीकृष्णचन्द्रको सम्मुख खड़े देखकर एक साथ गोपशिशु उठ खड़े भी हुए। पर श्रीकृष्णवियोगमें रोते-रोते इनकी जो दशा हुई है, उसे नेत्र भले देख लें, वाणी यत्किञ्चित् संकेत भी कर सके, इतनी सामर्थ्य भी उसमें कहाँ! अस्तु, अपने सखाओंकी छाया श्रीकृष्णचन्द्रपर पड़ी, एक साथ इतनी करुण मूर्तियाँ उनके दृगोंमें समा गयीं। ओह! फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रकी वह व्याकुलता, उनका वह आर्तभाव—वाणी तो इसे स्पर्श करेगी ही क्या, कदाचित् अचिन्त्य सौभाग्यवश किसीकी आँखोंके सामने वह आ जाय तो नेत्रोंमें यह शक्ति नहीं कि स्थिर रहकर इसे देख सकें, इसके बिन्दुमात्र स्पर्शमें ही दर्शककी चेतना बह जायगी। फिर देखे तो कौन देखे! जो हो, गोपसखाओंका यह करुण मिलाप, मिलापके समयकी करुण क्रन्दन-ध्वनि गिरिराजके कण-कणमें निनादित हो उठती है; मानो गोवर्द्धन उस करुण-प्रवाहसे द्रवित होकर प्रतिशब्दके मिससे स्वयं भी क्रन्दन करने लगा हो—

सर्वे तस्मादुत्थिता रोदनार्ता-
स्तद्वद्वार्तं कृष्णमह्वाय चक्रुः।
सोऽपि क्ष्माभृत्तत्प्रतिध्वानदम्भात्
क्रन्दन्नासीदित्यमीभिर्व्यभावि॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

आवेग शिथिल होनेपर श्रीकृष्णचन्द्र उस संकटपूर्ण स्थानसे गोपबालकोंको बाहर ले आते हैं, वहाँ ले जाते हैं, जहाँ व्योमासुरका निष्प्राण शरीर पड़ा है। किंतु आज अब और अन्य क्रीड़ा नहीं होगी, सबको शीघ्र व्रजमें लौट चलना है। गोवत्स एकत्रित कर लिये जाते हैं। शिशुओंके मुखपर पुनः उल्लास भर आता है। पर यह उल्लास आया है अपने प्राणसखा और श्रीकृष्णचन्द्रके इस वीरत्वकी, व्योमसंहारके शौर्यकी प्रशंसा करनेके लिये। ऊपर तो अञ्जलि बाँधे सुर समुदायका स्तवन चल रहा है और नीचे गलबाँही दिये सखाओंके द्वारा कीर्तिगान। सबका अनुमोदन करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र व्रजमें प्रविष्ट हो रहे हैं—

स्तूयमानः सुरगोपैः प्रविवेश स्वगोकुलम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ३७। ३४)

सुरगन सब अस्तुति करत, गोप करत सब गान।
एहि बिधि कृष्ण कृपाल प्रभु ग्रह पहुँचे ब्रजप्रान॥

वन-भोजन-लीलाका उपक्रम, वयस्य गोप-बालकोंके द्वारा श्रीकृष्णका शृङ्गार तथा श्रीकृष्णके साथ उनकी यथेच्छ क्रीड़ा

यह तो उषा आयी है, अंशुमाली अभी भी क्षितिजके उस पार ही हैं। किंतु कमलनयन श्रीकृष्णचन्द्र आज इसी समय अपने-आप जग उठे हैं, जगकर जननीको अपने मनकी एक बात बता रहे हैं—'री मैया! देख, आज यहाँ नहीं, आज तो एक परम सुन्दर वनमें जाकर वहाँ ही भोजन करनेकी मेरी रुचि हुई है।'—

कस्मिन्नप्यहनि अनुदित एवाहस्करे पुष्करेक्षणो जननीमुवाच। मातरद्य निरवद्यविपिनभोजने भो जनेश्वरि! विहितलालसोऽस्मि।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अपने नीलमणिका ऐसा प्रस्ताव जननी सहजमें स्वीकार कर लें, यह भी कभी सम्भव है? जननीको तो अपने पुत्रकी यह अभिलाषा नितान्त अनीतिपूर्ण प्रतीत हुई और वे बड़े वेगसे सिर हिलाकर तथा 'नहीं-नहीं, यह तो होनेकी ही नहीं।'—मुखसे भी स्पष्ट कहकर अपना निर्णय सुना देती हैं—

इति तनयोदितमनयोदितमवगम्य व्रजराज-वधूर्जवधूयमानवदनं न न न नेति यदा निजगाद।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

किंतु श्रीकृष्णचन्द्रने भी हठ पकड़ लेनेके अनन्तर उसे फिर छोड़ देना सीखा जो नहीं है। अनुनय-विनय करते हुए अपने करपल्लवोंसे बार-बार जननीका मुख आच्छादन करते हुए उनकी सम्मति ले लेनेके लिये वे तुले बैठे हैं। जब मैया अपने निश्चयपर अडिग बनी रहती हैं, तब श्रीकृष्णचन्द्र आज एक नयी युक्तिका आश्रय ग्रहण करते हैं, वे मैयाको अपनी शपथ दे देते हैं। बस, जननीको मौन कर देनेके लिये यह अमोघ उपाय है। अनुत्साहपूरित चित्तसे ही हो, पर अब तो जननीको नीलमणिका अनुमोदन करना ही पड़ता है—

शपथेन मुहुरनुनाथ्य तदनुमोदनं कारयामास।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

वन-भोजनकी यह योजना कल वत्सचारण कर लौटते समय ही बन चुकी थी; सखामण्डलमें यह स्थिर हो चुका था कि कल प्रत्येक शिशु अपने घरसे भोज्यद्रव्य साथ ले आये और सब मिलकर, साथ बैठकर, परस्पर बाँटकर प्रातः कलेवा भी किसी सुरम्य वनमें ही करें। प्रस्ताव श्रीकृष्णचन्द्रका ही था और फिर अविरोध, समर्थन सखावर्गका हो, इसमें तो कहना ही क्या है। इसीलिये श्रीकृष्णचन्द्र आज जननीके शत-शत अवरोध-अनुरोधपर भी अविचल रहे और जननीको ही अपना निश्चय बदलना पड़ा। जो हो, व्रजरानी सर्वप्रथम अतिशय शीघ्रतासे अपने चञ्चल पुत्रको शृङ्गार धारण कराने लगती हैं और उधर रोहिणी मैया सुस्वादु सुमिष्ट विविध खाद्यसामग्रीसे छीकोंको पूर्ण करनेमें जुट पड़ती हैं।

वेशविन्यास पूर्ण हुआ और श्रीकृष्णचन्द्र प्राङ्गणमें आकर खड़े हो गये। मैया दौड़कर कुछ मोदक खण्ड एवं किञ्चित् नवनीत ले आयीं तथा अपने नीलसुन्दरके मुखमें डालने लग गयीं। नीलसुन्दर भी जानते हैं—यदि उन्होंने जननीके इस उपहारको अस्वीकार किया तो फिर वन-भोजनकी सारी योजना धरी रह जायगी। अतः वे खड़े-खड़े ही जननीकी यह भेंट लेने लगे। अवश्य ही अल्प-से-अल्प समयमें ही यह कार्य सम्पन्न हुआ और तब गूँज उठा श्रीकृष्णचन्द्रका शृङ्गनाद। आज उनके सखाओंकी तो अभी नींद भी नहीं टूटी है। यह पूर्ण परिचित शृङ्गध्वनि ही कर्णरन्ध्रोंमें प्रविष्ट होकर उनको—व्रजपुरके समस्त शिशुओंको जगाती है। वे हड़बड़ाकर उठ बैठे—'अरे! आज तो कन्नू भैयाकी ही विजय हुई, ऐसा तो कभी नहीं हुआ

था। हम सभी जाते थे, तब कन्हैया जागता था; जननीके शत-शत प्रयाससे, हमारे तुमुल कोलाहलसे उसके नेत्र खुलते थे और आज तो वह वनकी ओर चल पड़ा!' शिशु अपने गोवत्सोंको हाँक देनेके लिये दौड़े गोष्ठकी ओर। श्रीकृष्णचन्द्रके गोवत्स तो आज अपने पालकसे भी बहुत पूर्व मानो जाग उठे हैं। वे मूक गोशावक—जैसे आजकी व्यवस्थासे पूर्ण परिचित हों, इस शृङ्गनादकी ही प्रतीक्षा कर रहे हों—इस प्रकार ध्वनि होते ही नन्दभवनके तोरणद्वारपर कूदते हुए वे एकत्र हो जाते हैं। वनपथकी ओर अग्रसर होनेका चिरपरिचित संकेत उन्हें प्राप्त हो जाता है और वे उधर ही चल पड़ते हैं। आगे-आगे अपार गोवत्सश्रेणी और पीछे उनके पालक व्रजेन्द्रनन्दन गोविन्द श्रीकृष्णचन्द्र वनकी ओर चले जा रहे हैं—

क्वचिद् वनाशाय मनो दधद् व्रजात्
प्रातः समुत्थाय वयस्यवत्सपान्।
प्रबोधयञ्छृङ्गरवेण चारुणा
विनिर्गतो वत्सपुरस्सरो हरिः॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। १)

श्रीकृष्णचन्द्रका त्रिभुवनमोहन आजका वह वत्सपालवेश देखते ही बनता है—

वेणुं वामे करकिसलये दक्षिणे चारुयष्टिं
कक्षे वेत्रं दलविरचितं शृङ्गमत्यद्भुतं च।
बर्होत्तंसं चिकुरनिकरे बल्गुकण्ठोपकण्ठे
गुञ्जाहारं कुवलययुगं कर्णयोश्चारु बिभ्रत्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'वाम करकिसलय वेणुसे सुशोभित है, दक्षिण करमें सुन्दर यष्टि (छड़ी) है। कक्षमें बेंत एवं पत्रमण्डित अद्भुत शृङ्ग दबाये हुए हैं। अलकावली मोरमुकुटसे मण्डित है। सुन्दर कण्ठदेश गुञ्जाहारसे राजित हो रहा है। कर्णयुगल युग्मकुवलयसे विभूषित हैं।'

जननीके अगणित रत्नहार, रत्नाभूषणोंमेंसे आज किसीको श्रीअङ्गपर स्थान नहीं मिला। आज तो श्रीकृष्णचन्द्र वनमें ही रहेंगे। जननीने भी अचिन्त्य प्रेरणावश तदनुरूप ही शृङ्गार धराये हैं। फिर अवकाश ही कहाँ था कि जननी अपने नीलसुन्दरको समस्त शृङ्गार धारण करा सकें। एक क्षणका विलम्ब भी श्रीकृष्णचन्द्रको असह्य जो हो गया था। मैयाका मन भी रह-रहकर इस ओर आकर्षित हो रहा था कि अधिक-से-अधिक छीकोंमें अधिक-से-अधिक भोजनद्रव्य श्रीरोहिणी एवं परिचारिकाएँ भर पायीं कि नहीं। कहीं वनमें सखाओंको वितरण करते-करते स्वयं नीलमणिके लिये भोज्यवस्तुओंकी त्रुटि न पड़ जाय—मैयाको तो यह चिन्ता लगी थी। शृङ्गारके बिना ही उनके परम सुन्दर साँवरे पुत्रसे सौन्दर्यकी किरणें झरती रहती हैं, रत्नाभरण आज न सही! बस, अधिक-से-अधिक खाद्य सामग्री वनमें भेजी जा सके, मैयाके लिये यही प्रमुख प्रश्न था और इसीलिये आज श्रीकृष्णचन्द्रका छीका वहन करनेवाले गोपसेवकोंकी संख्या भी मैयाने बढ़ायी है, बहुत अधिक बढ़ायी है—शृङ्गार-सामग्रीकी नहीं।

अस्तु, राजसदनकी सीमा पार करते-न-करते सखाओंका समुदाय भी एकत्र होने लगता है। देखते-देखते सहस्र-सहस्र गोपशिशु अपने असंख्य गोवत्सोंको साथ लिये, उन्हें आगे हाँकते हुए आ पहुँचते हैं, श्रीकृष्णचन्द्रके मण्डलमें सम्मिलित हो जाते हैं। प्रत्येकने अपने घरसे छीकोंमें भोजनद्रव्य ले लिये हैं। सभी सुन्दर वेत्र, शृङ्ग एवं वेणुसे विभूषित होकर ही आये हैं। इन शिशुओंके पारस्परिक प्रेमको, श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति असीम अनुरागकी तुलना ही कहाँ सम्भव है। फिर आजकी मनोवाञ्छित योजना सफल होते देखकर तो इनके सुखका पार नहीं रहा है। आनन्दसिन्धुकी चञ्चल लहरियोंसे स्नात हुए, उनपर नाचते-से हुए ये चले जा रहे हैं अपने प्राणाराम सखा श्रीकृष्णचन्द्रके साथ!

तेनैव साकं पृथुकाः सहस्रशः
स्निग्धाः सुशिग्वेत्रविषाणवेणवः।
स्वान् स्वान् सहस्रोपरिसंख्ययान्वितान्
वत्सान् पुरस्कृत्य विनिर्ययुर्मुदा॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। २)

अपने बछड़े उन सबोंने श्रीकृष्णचन्द्रके असंख्य गोवत्सोंमें मिला दिये—

कृष्णवत्सैरसंख्यातैर्यूथीकृत्य स्ववत्सकान्।

(श्रीमद्भा० १०। १२। ३)

अपने बछरन लै-लै आए।
कान्ह के बछरन आनि मिलाए॥

और फिर स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रसे मिलकर ऐसे चले जा रहे हैं, जैसे असंख्य मन्मथोंकी मण्डली श्रीकृष्णचन्द्रको आवृत्त किये जा रही हो—

नंद-सुवन सौं मिलि कै चले।
लागत सबै मैन-से भले॥

उनके मध्यमें श्रीकृष्णचन्द्रकी शोभा!—उसका तो क्या कहना है!—

तिन मधि मोहन अति सुखदाइक।
नग जराइ मधि ज्यौं मधिनाइक॥

किंतु सबको ही आज एक बात अतिशय खल रही है। आज दाऊ भैया साथ जो नहीं चल रहे हैं। उनके अभावमें तो वन-भोजनका रस ही आधा हो जायगा। किसी कारणसे वे तो घरपर ही रह गये—

केनापि हेतुना गृहस्थितः कुतूहलिनि हलिनि"""।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अरे नहीं, उनका आज जन्मनक्षत्र है; उसकी शान्ति, अभिषेक आदिके लिये रोहिणी मैयाने उन्हें बलपूर्वक रोक लिया—

बलदेवस्तु मात्रा जन्मर्क्षशान्तिकस्नानाद्यर्थं गृह एव बलाद्रक्षितः।

(सारार्थदर्शिनी)

इतना अवश्य है, चलते समय दाऊ भैयाने श्रीकृष्णचन्द्रके समीप चुपचाप यह संवाद भेज दिया है—

हन्त भोः! कृष्ण! त्वया सह क्रीडातृष्णागप्यहं विरुद्धविधिना निरुद्ध एवास्मि।××× भवता या लीला भावयितुं भाविता सावश्यं भावयितव्या।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'भैया रे श्रीकृष्ण! तुम्हारे साथ क्रीड़ाकी लालसा रहनेपर भी दैव मेरे विरुद्ध है और मैं रोक ही लिया गया। किंतु जो लीला तुमने करनेको सोच रखा है, उसे अवश्य सम्पादित करना।'

बलरामकी यह सम्मति ही उनके अभावको किसी अंशमें पूर्ण कर दे रही है। फिर तो अचिन्त्य-लीला-महाशक्तिने डोरी खींच ली। दाऊ भैया सबके स्मृतिपथसे बाहर चले आये। दूसरे ही क्षण नवीन उत्साहका द्वार खुला। अरविन्दनयन श्रीकृष्णचन्द्रके दृगञ्चल चञ्चल हो उठे। उल्लासकी स्रोतस्विनी लहरा उठी और गोपशिशु उसीमें बह चले। आगे मनोरम वनश्रेणी है। कलिन्दनन्दिनीका मञ्जुल प्रवाह है। श्रीकृष्णचन्द्रका नेतृत्व है। इससे अधिक उद्दीपन और क्या होगा। गोपशिशु वत्सचारण करते हुए ही बाल्यकौतुकमें संलग्न हो जाते हैं। चलते-चलते जहाँ कहीं भी रुक जाते हैं और वहीं एक-से-एक सुन्दर बाल्यविहार होने लगता है—

चारयन्तोऽर्भलीलाभिर्विजह्रुस्तत्र तत्र ह।

(श्रीमद्भा० १०। १२। ३)

पहली क्रीड़ा हुई नीलसुन्दरके श्यामल श्रीअङ्गोंको वन्यसामग्रीसे अलङ्कृत करनेकी, स्वयं भी आभूषित होनेकी। सबकी माताओंने यथासाध्य पर्याप्त सजाकर ही पुत्रोंको वनमें भेजा है। श्रीकृष्णचन्द्रने रत्नहार, मणि-भूषण नहीं धारण किये तो क्या? शिशुओंकी माताओंने तो आज भी उन्हें—बालकोंकी रुचि ऐसे शृङ्गारमें न रहनेपर भी—वैसे ही सजाया है। सदाकी भाँति गोपशिशु अङ्गद, वलय, किङ्किणीजाल, कर्णकुण्डल, मञ्जीर और विविध मणिमय भूषणोंसे सुसज्जित हैं—

केयूरे वलयानि किङ्किणिघटा हारावली कुण्डले
मञ्जीरौ मणिवृन्दबन्धलतिका यद्यप्यमीषां बभुः।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

गुञ्जा-काच-मुक्ता-स्वर्णमणिनिर्मित आभरणोंसे पुत्रोंकी वेशरचनामें आभीर-सुन्दरियोंने कलाकी इति कर दी है; इतने अल्प समयमें व्रजेश्वरीने भी पुष्पोंसे ही अपने नीलमणिका परम मनोहर शृङ्गार करके ही भेजा है। पर इससे क्या हुआ, शिशुओंके मनके अनुरूप न तो श्रीकृष्णचन्द्र ही सजे और न वे सब

ही। व्रजरानी, उनकी माताएँ कहाँ पायेंगी वनस्थलीकी शृङ्गारसामग्री। भूषणोपयोगी ये छोटे-बड़े वनफल, द्रुमवल्लरियोंके रंग-बिरंगे नवपल्लव, मनोहारी पुष्पगुच्छ, विविधवर्ण, चित्र-विचित्र कुसुमोंकी राशि, अभी-अभी झड़े हुए झलमलाते मयूरपिच्छ एवं गैरिक आदि भाँति-भाँतिके वन्यधातु—ये वस्तुएँ व्रजराजमहिषीको, गोप-सुन्दरियोंको कहाँ मिलेंगी! और मिलें भी तो इनसे विभूषित करनेकी कल्पना ही इनमें कहाँ सम्भव है। किंतु शिशुओंके मनभावते शृङ्गारद्रव्य तो ये ही हैं। उन्हें तो अपने प्राणप्रतिम सखा कन्हैयाको, स्वयं अपने-आपको इन्हींसे अलङ्कृत करना है। तभी तो समुचित वेशविन्यास होगा! अन्यथा इन आभूषणोंका भार वहन करनामात्र है! अतः सबसे पहले आज वेशरचनाका ही कार्य हुआ। फलसे, नवकिसलयसे, कुसुम-स्तबकसे, सुमनसे, शिखिपिच्छ एवं वन्यधातुओंसे प्रथम इन सबने मिलकर नीलसुन्दरके अङ्गोंको अलङ्कृत किया और फिर पारस्परिक सहयोगद्वारा तथा श्रीकृष्णचन्द्रके करपद्मोंसे आहृत वन्य-उपहारोंको ले-लेकर वे सब-के-सब स्वयं भी विभूषित हुए—

फलप्रवालस्तबकसुमनःपिच्छधातुभिः ।
काचगुञ्जामणिस्वर्णभूषिता अप्यभूषयन्॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ४)

इसके अनन्तर उनकी यथेच्छ क्रीड़ा आरम्भ हुई। एकने चुपचाप किसीका छीका कंधेसे उतार लिया, अथवा बगलसे बेंत खींच ली और छिपा दी। किसी सहगामी दर्शकका संकेत पानेपर उसे अपनी वस्तुके अपहृत होनेका भान हुआ और वह ढूँढ़ने चला। वस्तु जाती कहाँ। अपहरण करनेवालेका ठीक-ठीक अनुमान उसे हो गया और वह दौड़ उससे अपनी वस्तु छीनने। किंतु समीप पहुँचनेसे पूर्व उसने तो अपहृत वस्तु दूर फेंक दी। शिशु अपनी वस्तु उठा लेनेके लिये लपका, पर ले नहीं सका। दूसरे शिशुने उसे उठाकर और भी आगे निक्षिप्त कर दिया। वहाँ पहुँचनेपर तीसरेने और आगे फेंक दिया। वस्तु न पाकर, अपनी हारका अनुभव कर श्रान्त शिशुके नेत्र भरने लगे। फिर तो किसी वयस्क शिशुने अथवा स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रने ही हँसते हुए उसकी वस्तु लाकर उसके हाथोंमें दे दी और उसे अङ्कमें भर लिया। उसके तप्त अश्रु एक अनिर्वचनीय सुखके परमशीतल बिन्दुमें परिणत हो गये!

कदाचित् वृन्दाकाननकी सुन्दर शोभा निहारने श्रीकृष्णचन्द्र किञ्चित् दूर चले गये, फिर तो होड़ मची—दौड़कर कौन सबसे पहले श्रीकृष्णचन्द्रको स्पर्श करता है? 'यह लो मैं पहुँचा' कहते हुए असंख्य शिशु एक साथ दौड़े श्रीकृष्णचन्द्रको स्पर्श करनेके लिये; और उन्हें छूकर, अपने भुजपाशमें बाँधकर सुखसिन्धुमें निमग्न हो गये।

एक समुदायकी लालसा हुई—श्रीकृष्णचन्द्रकी भाँति ही वह वंशी बजाये। उसने अपनी वंशीमें स्वर भरना आरम्भ किया। फिर तो उसका अनुकरण दूसरोंने भी किया ही। विभिन्न स्वरनादसे कानन गूँज उठा और तब श्रीकृष्णचन्द्रने अपने अधरोंपर वंशीको धारण किया। करकिसलय चञ्चल हुए, छिद्रोंपर अँगुलियाँ नाचने लगीं। फिर तो अगणित शिशुओंका सम्मिलित वेणुनाद श्रीकृष्णचन्द्रके वंशीरवमें ही सहसा समा-सा गया। साथ ही शिशुओंको अनुभव हुआ—'कन्नू भैयाकी स्वरलहरीसे जिस मधुकी वर्षा होती है, वह तो अप्रतिम है; हम सबोंके वंशीनादमें सचमुच वह मिला नहीं, वह तो उससे सर्वथा पृथक् रह रहा है; उस मधुप्रवाहमें हमारा नाद प्रस्तर-कण-सा खर-खर कर रहा है। उसमें एकरस होकर मिल सकना तो दूर रहा, हमारा वंशीरव तो उलटे उसकी मधुरिमाको रुद्ध कर दे रहा है।' एक साथ ही शिशुओंने बजाना स्थगित कर दिया और फिर सबने निश्चय कर लिया—'देखो, जब कन्नूकी वंशी बजे, तब हममेंसे कोई भी उस समय उसका अनुकरण न करे। अन्यथा हम सभी इस परम सुखके पूर्ण उपभोगसे वञ्चित रह जायँगे। और बातोंमें कन्नूको हरायें, वह तो हारेगा ही, पर वंशीवादनमें उसकी होड़ करने न जायँ!'

यही परिणाम शृङ्गध्वनिका भी निकला। श्रीकृष्णचन्द्रके शृङ्गसे निर्गत अत्यन्त गम्भीर नादकी

समता गोपशिशु न कर सके तथा पूर्ववत् निर्णय इस सम्बन्धमें भी हुआ। और वेणु, शृङ्ग तो प्रतिदिन ही बजते हैं, बजेंगे ही। आज तो और ही क्रीड़ा हो!'

अस्तु, एक दलको अन्य क्रीड़ा सूझी। मधुमत्त भ्रमर गुन-गुन करते उड़ रहे हैं। शिशुओंके इस दलने उनकी ओर देखा, उनकी ध्वनि सुनी और फिर उस 'गुन-गुन' में ही अपना कण्ठ-स्वर मिलाना आरम्भ किया। इतनेमें कोकिलका 'कुहू-कुहू' रव सुन पड़ा और कुछ शिशु कोकिलकण्ठका ही अनुकरण करने लगे।

कतिपय शिशु अतिशय वेगसे दौड़ने लगे। आकाशमें उड़ते हुए पक्षियोंकी सचल छाया देखकर उन्हें नया ही कौतुक हाथ लगा। वे उस छायाका ही अनुसरण करते हुए छायापर अपने चरण रखते हुए चलनेके प्रयासमें प्रबल वेगसे दौड़ चले। आगे सरोवर आ जानेसे उनका मार्ग रुद्ध हो गया। अन्यथा वे न जाने कितनी दूरतक चले जाते। जो हो, सरोवरपर जानेसे एक और सुन्दर क्रीड़ासामग्री मिली। वहाँ हंसोंकी मृदुगति देखकर उनके आनन्दका पार नहीं। वहीं इस मरालकुलकी शोभा निहारनेके लिये श्रीकृष्णचन्द्र भी दौड़े आये। उन्हें अपने समीप आया देखकर उन हंसोंकी विचित्र दशा हुई। वे ग्रीवा उठाकर मृदु मन्दगतिसे अतिशय सुमधुर कूजन करते हुए उनकी ओर ही चल पड़े। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रके उन गोपसखाओंकी चेष्टा भी देखने ही योग्य हुई। पंक्तिबद्ध होकर वे बालक ठीक हंसोंकी भाँति ही चलने लगे। श्रीकृष्णचन्द्रका उन्मुक्त हास्य उन्हें उत्तरोत्तर प्रोत्साहित करता गया और हंसकी गतिसे मृदुपादविन्यासकी क्रीड़ा न जाने कितनी देर चलती रही।

किञ्चित् अल्पवयस्क शिशुओंका ध्यान शान्त, स्थिर बैठे वक-समूहोंकी ओर गया। वे उनकी मुद्राका ही अनुकरण करने लगे। उनसे कुछ दूर वहीं सरोवर-तटपर वे शिशु भी वैसे ही ध्यानस्थित-से शान्त बैठ गये। उनका यह सुन्दर अभिनय देखकर श्रीकृष्णचन्द्रके उल्लासकी सीमा नहीं रही।

वहीं देखते-देखते दल-के-दल मयूर एकत्र होने लगे। उन्हें भी श्रीकृष्णचन्द्रकी अङ्गगन्ध मिली और वे अपनी घ्राणशक्तिसे इस दिव्यातिदिव्य सौरभका संधान पाकर सघन वनसे वहाँ चले आये, जहाँ श्रीकृष्णचन्द्र विराजित हैं। वे सचमुच आये ही हैं श्रीकृष्णचन्द्रका अभिनन्दन करने; क्योंकि उन सबोंने पुच्छका विस्तार किया और लगे नृत्य करने। उनके इस नृत्यसे श्रीकृष्णचन्द्रका मन भी नाच उठता है। केवल मन ही नहीं, शरीर भी। वास्तवमें वे उन नृत्यपरायण मयूरोंके पाद-विन्यासपर, उनके तालबन्धपर उनकी-सी भाव-भङ्गिमाका प्रकाश करते हुए नृत्य करने लग जाते हैं। गोपशिशुओंकी तो क्या चर्चा, श्रीकृष्णचन्द्रका यह नृत्य अतिशय चञ्चल कपिदलको भी मुग्ध कर देता है। द्रुमशाखाओंपर अवस्थित, अतिशय शान्ति धारण किये इस कपिसमाजकी भावसमाधि देखने ही योग्य है!

किंतु आखिर तो वह कपिकी जाति ठहरी। एकने भूल कर दी। दर्शनलोभसे ही वह कूदकर निम्नतम शाखापर आ बैठा। एकके नीचे उतर आनेपर दूसरेके द्वारा अनुकरण अनिवार्य है ही। कपिस्वभावकी शोभा भी इसीमें है। अस्तु, देखते-ही-देखते शत-शत कपिसमूह वृक्षसे नीचे आकर नृत्यपरायण श्रीकृष्णचन्द्रको, मयूर-कुलको आवृत कर लेते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रका ध्यान इस ओर नहीं जाता, वे तो नृत्यमें तन्मय हो रहे हैं। किंतु मयूर भयभीत हो उठे। अपने पुच्छका संकोच कर, नृत्यका विराम कर, सब-के-सब तरुशाखाओंपर जा चढ़े। अब तो गोपशिशुओंके रोषका पार नहीं। इस दुष्ट कपिदलने श्रीकृष्णचन्द्रका नृत्य जो बिगाड़ दिया। शिशुओंमें प्रतिशोध लेनेकी भावना जाग्रत् हुई। वे उनकी लंबी नीचे लटकती पूँछोंको पकड़-पकड़कर खींचने लगे और जब वे कपि ऊपरकी शाखाओंपर जा चढ़े, तब शिशु भी उनके साथ ही वृक्षोंपर चढ़ गये। वे सब वानर-स्वभावबश मुख विकृत करके जब इनकी ओर घुड़कने लगे, तब ये सब भी ठीक वैसे ही अपना मुँह फाड़कर, दाँत निकालकर, उलटा उन्हें ही धमकाकर उन्हें पुनः पकड़ लेनेका प्रयास करने

लगे। भयभीत कपिसमाज जब इस वृक्षसे उस वृक्षपर कूदकर भागने लगा, तब ये निर्भीक गोपशिशु भी एकसे दूसरे वृक्षपर कूदने लगे। उन्हें बहुत दूर हटाकर ही इन सबोंने विश्राम लिया।

एक ओर कतिपय शिशुओंका अभिनय और भी मनोरम है। आयु छोटी होनेके कारण यह मण्डल न तो वृक्षपर ही चढ़ सका और न अन्य क्रीड़ाओंमें ही इसे सफलता मिली। किंतु इस बार इन्होंने भी बाजी मार ली। सरोवरके समीप उछलते हुए भेकों (मेढकों)-की ओर इनकी दृष्टि गयी और ये भी पृथ्वीपर हाथ टेककर वैसे ही फुदकने लगे। ठीक उनकी भाँति ही फुदककर क्षुद्र जल-धाराओंको पार करने लगे। इनकी यह चेष्टा देखकर श्रीकृष्णचन्द्रके सहित अन्य समस्त गोपशिशु हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये।

कुछ गोपबालकोंका ध्यान अपने प्रतिबिम्बकी ओर गया। प्रातःकालकी इतनी लंबी छाया देखकर वे उस प्रतिच्छायासे ही खेलने लगे। बालकोंने अपने हाथ उठाये, प्रतिबिम्बके हाथ भी उठ गये। भला, इतना सुन्दर खेल और क्या होगा! फिर तो अपने अङ्गोंको विविध भाँतिसे प्रकम्पित कर उसकी प्रतिक्रिया वे छायामें देखने लगे, देख-देखकर आनन्दमग्न होने लगे और जब अपनी ही प्रतिध्वनिसे खेलनेका क्रम आरम्भ हुआ, तब तो कहना ही क्या है! तुमुल आनन्द-कोलाहलसे समस्त वनप्रान्तर मुखरित हो रहा है। सहसा इसीकी ओर कुछका ध्यान गया तथा प्रश्नोत्तर आरम्भ हुआ। शिशुने उच्च कण्ठसे पुकारा—'अरे! तुम कौन हो?' प्रतिध्वनिने इसीकी आवृत्ति कर दी। 'हम तो श्रीकृष्णचन्द्रके सखा हैं।' प्रतिनादने भी यही उत्तर दिया। 'क्या तुम्हारे साथ भी श्रीकृष्णचन्द्र हैं?' प्रतिशब्द भी ज्यों-का-त्यों लौट आया। 'हाँ हैं।' इसका उत्तर भी यही मिला। किंतु इस उत्तरसे कुछ शिशु रुष्ट हो गये—'मिथ्यावादी कहींके! श्रीकृष्णचन्द्र तो एक हैं; हमारे साथ हैं; तेरे साथ कहाँ हैं?' प्रत्युत्तर भी यही प्राप्त हुआ। अब तो शिशुओंके रोषका पार नहीं—'रे! तू भी कोई असुर प्रतीत होता है; पर स्मरण रख, तेरी भी दशा बक-जैसी होगी!' इसके उत्तरमें भी यही शाप उधरसे—वनप्रान्तरके अञ्चलसे भी लौट आया। न जाने कितनी देर यह शापानुग्रहकी क्रीड़ा हुई! इस प्रकार वनमें वत्सचारण करने आकर श्रीकृष्णचन्द्र आज भी सखाओंके साथ बाल्यलीला-विहारका रसपान करने लगे, स्वयं पानकर, वितरणकर रसमत्त हो उठे—

भुञ्जानोऽन्योन्यशिक्यादीन् ज्ञातानाराच्च चिक्षिपुः।
तत्रत्याश्च पुनर्दूराद्धसन्तश्च पुनर्ददुः॥
यदि दूरं गतः कृष्णो वनशोभेक्षणाय तम्।
अहं पूर्वमहं पूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे॥
केचिद् वेणून् वादयन्तो ध्मान्तः शृङ्गाणि केचन।
केचिद् भृङ्गैः प्रगायन्तः कूजन्तः कोकिलैः परे॥
विच्छायाभिः प्रधावन्तो गच्छन्तः साधुहंसकैः।
बकैरुपविशन्तश्च नृत्यन्तश्च कलापिभिः॥
विकर्षन्तः कीशबालानारोहन्तश्च तैर्द्रुमान्।
विकुर्वन्तश्च तैः साकं प्लवन्तश्च पलाशिषु॥
साकं भेकैर्विलङ्घन्तः सरित्स्रवसम्प्लुताः।
विहसन्तः प्रतिच्छायाः शपन्तश्च प्रतिस्वनान्॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ५—१०)

चलि गए जमुन तट सबहिन के घट, उमगि अनंदित केलि करैं,
जे बछनि चरावत मिलि सब गावत, कुसुम अनेकनि माल धरैं।
इक छीकें छोरत इक इक चोरत, पाक बिबिध बिधि खात यहाँ,
इक मोरनि-बोलनि, हंस-कलोलनि, बोलत बोलनि बोल तहाँ॥
इक कोकिल-कूकनि, पर्कट-हूकनि हूकत जहँ-तहँ हास करैं,
इक धौंरनि गुंजनि, पहिरत गुंजनि, बहिरत कुंजनि, स्वाँग धरैं।
इक प्रभुहि रिझावत, प्रभु सुख पावत, अति प्रबीन गति व्रत सचैं,
लखि सुर सब तरसत, सो सुख बरसत, सिसु उर आनँद खेल रचैं॥

ज्ञानी एवं योगीगण जिन्हें निर्विशेष ब्रह्मानन्दस्वरूप मानते हैं, दास आदि भक्तोंके लिये जो परमपुरुष परमेश्वर हैं, मायाश्रित विषयविदूषित नेत्रवाले पुरुषोंके लिये जो नरबालकमात्र हैं, उन्हीं स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके साथ गोपशिशुओंका यह अद्भुत विहार हो रहा है! पता नहीं, कैसे, किस जातिके राशि-राशि पुण्योंका यह परिणाम गोपशिशुओंको प्राप्त हुआ है!

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजहुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ११)

जिन्होंने यम-नियमका सतत साधन कर अपने चित्तको एकाग्र कर लिया है, जो निर्विकल्प समाधिमें स्थित हो चुके हैं—इस प्रकारके समाहितचित्त योगी भी अनेक जन्मोंमें अपार साधनक्लेश वरण करनेपर भी श्रीकृष्णचन्द्रकी चरणधूलिकणिकाका स्पर्श नहीं प्राप्त करते; किंतु वे ही श्रीकृष्णचन्द्र आज इस वृन्दाकाननमें, व्रजवासियोंके दृष्टिपथमें सतत अवस्थित हैं। इन व्रजवासियोंके अपरिसीम सौभाग्यकी बात कौन बताये, कैसे बताये?

यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। १२)

जाके पद-रज हित तप करि कै, बहुत काल जोगी दुख भरि कै।
प्रेरित चपल चित्त कहुँ भूरि, सो वह धूरि तदपि हू दूरि।
सो साच्छात दृगन-पथ चहियै, कवन भाग्य ब्रजजनकौ कहियै।

अघासुरका उद्धार

शशाङ्कशेखरकी दृष्टि निमेषशून्य हो गयी है; सुरेन्द्रकी, सुर-समुदायकी तो बात ही क्या। श्रीकृष्णचन्द्रका बाल्यविहार प्रत्यक्ष हो जानेपर किसे आनन्दमुग्ध नहीं कर देता! इस रसमन्दाकिनीकी धारा किसे आत्मसात् नहीं कर लेती! हाँ, एक वर्ग ऐसा अवश्य है, जिसकी आँखें इस स्रोतका स्पर्श पाकर शीतल नहीं होतीं, अपितु और भी जलने लगती हैं। इसकी ऊर्मियोंमें ही निरन्तर अवगाहन करते रहनेकी, इन्हींमें मिल जानेकी लालसा उस वर्गके प्राणियोंमें उदय नहीं होती; इसके बदले वहाँ तो इस प्रवाहको समूल विलुप्त कर देनेका ही भाव जाग उठता है। वह वर्ग है असुर-सिरमौर मधुपुर-सम्राट् कंसका। और इस वर्गका ही एक विशिष्ट सदस्य अघासुर अपने अधीश्वरसे प्रेरित हो यहाँ आज वृन्दावनमें आया है; श्रीकृष्णचन्द्रका, गोपशिशुओंका स्वच्छन्द, सुखमय विहार देख रहा है; ज्यों-ज्यों देखता है, उसके हृदयका उत्ताप बढ़ता जाता है; श्रीकृष्णचन्द्रकी, उनके सखाओंकी यह सुखक्रीड़ा उसके नेत्रोंके लिये असह्य बनती जा रही है। यह वही अघासुर है, जिसके बलकी छाप समस्त सुरसमुदायपर अङ्कित है, अमृतपानसे अमर बन जानेपर भी देवसमाज जिससे नित्य सशङ्कित है, अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये जिसके निधनकी नित्य प्रतीक्षा करता रहता है—कब वह शुभ क्षण उपस्थित हो, अघका अन्त हो जाय और सुधापान व्यर्थ हो जानेकी सम्भावना जाती रहे!—

अथाघनामाभ्यपतन्महासुरस्तेषां सुखक्रीडनवीक्षणाक्षमः।
नित्यं यदन्तर्निजजीवितेप्सुभिः पीतामृतैरप्यमरैः प्रतीक्ष्यते॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। १३)

तदनंतर अघनामा दुष्ट।
आयौ सुख देखि सक्यौ न नष्ट॥
× × ×
जाकैं डर सुर थरथर डरैं।
जद्यपि अमृत-पान हू करैं॥
तदपि कहँ जब लौं अघ जीवै।
तब लगि ब्यर्थ अमीकौं पीवैं॥

इस समय गोपशिशुओं एवं श्रीकृष्णचन्द्रमें दौड़की होड़ लगी है। इससे पूर्व तो बालकोंने किञ्चित् दूर चले गये श्रीकृष्णचन्द्रको सर्वप्रथम स्पर्श करनेकी परस्पर बाजी लगायी थी—

धावत कहत अमी जनु बरसै।
तेइ राजा जु प्रथम ही परसै॥
बन सोभा कौं लखन हित कृष्न दूरि जब जात।
तब सब बालक दौरि कह प्रथम-प्रथम हम तात॥

और अब श्रीकृष्णचन्द्रको पराजित कर देनेकी योजना बनी है। सचमुच विजय भी शिशुओंकी ही हुई। 'अरे भैयाओ! देख लो, कनूँकी गति तेज है या

हमारी'—कहकर बालक दौड़े। उनके साथ ही श्रीकृष्णचन्द्र भी बड़े वेगसे भगे; किंतु शिशु थोड़ी दूरमें ही उनका अतिक्रमण कर गये, श्रीकृष्णचन्द्र सबसे पीछे रह गये—

कृष्णस्तरस्वी किमहो वयं वा जानीत भो भ्रातर! इत्युदीर्य।
धावन्त एते त्वरयापि यान्तं श्रीकृष्णमारादतिचक्रमुस्तम्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

श्रुतियाँ जिनके लिये संकेत करती हैं—वे परमेश्वर अचल हैं, तथापि मनसे भी अधिक तीव्र गतियुक्त हैं, '**अनेजदेकं मनसो जवीयः**' वे अन्य समस्त दौड़नेवालोंको स्वयं स्थित रहते हुए ही अतिक्रमण कर जाते हैं, '**तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्**' उनका इस प्रकार गोपशिशुओंके पीछे दौड़ना और फिर पराजित हो जाना कितना आश्चर्यमय है! बलिहारी है परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रके इस बाल्यलीला-विहारकी!

अस्तु, गोपशिशु दैवक्रमसे दौड़ रहे हैं उस दिशामें ही जिधर, जिस ओर अघासुर आकर बैठा है, इनके उच्छलित सुखको देखकर मन-ही-मन जल रहा है। इतना ही नहीं, उसके अन्तस्तलमें परिशोध लेनेकी भी भीषण ज्वाला जल उठी है। यह अघासुर बकी (पूतना) एवं बकदैत्यका अनुज जो ठहरा! चतुर कंसने इसीलिये तो इसे उकसाकर भेजा है। अचिन्त्यलीलामहाशक्तिके प्रभावसे ही अबतक अघका रोष मनमें ही सीमित रहा था; आज श्रीकृष्णचन्द्रके, उनके प्राण-सखाओंके दर्शन होते ही वह आग भड़क उठी है। वह सोच रहा है—आह! इस कृष्णवर्ण शिशुने ही समस्त गोपबालोंका नेतृत्व करनेवाले इस काले-कलूटे नन्दपुत्रने ही तो मेरी सहोदरा बहिन बकीके, मेरे सहोदर भ्राता बकके प्राण लिये हैं, फिर भी मेरे जीवित रहते यह बालक जीवित बचा है, आनन्दविहार कर रहा है! नहीं-नहीं, पर्याप्त विलम्ब हो चुका; बस, अब इसे मैं उसी पथका पथिक बना दूँ—वहीं भेज दूँ, जहाँ मेरी लाड़िली बहिन गयी है, मेरे प्रिय भैया गये हैं। इसने तो मेरे दो सुहृदोंके ही प्राण लिये, मैं इसके समस्त मण्डलको ही नष्ट कर दूँगा। इसके साथी गोपशिशु भी इसका ही अनुसरण करें, ये असंख्य गोवत्स भी इस नन्दपुत्रका ही अनुगमन करें। मेरे मृत सुहृदोंको पिण्डदान मैंने नहीं किया। पर आज सर्वोत्तम अवसर उपस्थित हुआ है। यह नन्दपुत्र, ये गोपशिशु, ये असंख्य गोवत्स—ये ही सब मरकर, मेरे द्वारा मृत्युमुखमें समर्पित होकर तिलोदकरूप बन जायँगे। मेरे सुहृदोंके अनुरूप पिण्डसामग्री तो ये ही हैं; इनसे ही मेरे भाई और बहिनकी पूर्ण तृप्ति होगी और फिर तो समस्त व्रज भी उजड़ जायगा ही, मेरे महाराज कंसके शत्रु सम्पूर्ण व्रजवासी अपने-आप समाप्त हो जायँगे! उनके प्राण तो उनकी संतति हैं—यह नन्दतनय, ये बालक, ये गोशावक हैं। इन्हें मैं अभी-अभी विनष्ट किये दे रहा हूँ। फिर जब प्राण नहीं रहेंगे तब शरीर रहा, न रहा। उस निष्प्राण शरीरसमूहकी क्या चिन्ता। व्रजपुरवासियोंमें फिर धरा ही क्या है—कंस महाराजका परम अभिलषित आज मैं उन्हें भेंट चढ़ाऊँगा।'—

दृष्ट्वार्भकान् कृष्णमुखानघासुरः कंसानुशिष्ट स बकीबकानुजः।
अयं तु मे सोदरनाशकृत्तयोर्द्वयोर्मयैनं सबलं हनिष्ये॥
एते यदा मत्सुहृदोस्तिलापः कृतास्तदा नष्टसमा व्रजौकसः।
प्राणे गते वर्ष्मसु का नु चिन्ता प्रजासवः प्राणभृतो हि ये ते॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। १४-१५)

अपने उपर्युक्त निश्चयको अघासुरने तुरंत क्रियाका रूप देना भी आरम्भ किया। देखते-ही-देखते उस दुष्टने योजन-परिमित दीर्घ, एक महापर्वत-सदृश स्थूल, परम आश्चर्यमय, प्रकाण्ड अजगरका शरीर धारण कर लिया। उस महासर्पका मुख तो सचमुच एक प्रसरित गिरिगह्वरके समान प्रतीत होने लगा। निम्न ओष्ठ धरासे जा सटा। ऊर्ध्व ओष्ठ मेघोंका स्पर्श करने लगा। जबड़े कन्दरा-से बन गये। दन्तसमूह पर्वतशृङ्ग-से दीखने लगे। मुखविवरका अन्तर्भाग घोर अन्धकारसे पूर्ण हो गया। जिह्वा विस्तृत अरण्यसरणी (सड़क)-सी बन गयी। दीर्घ श्वास कर्कश वायुके प्रवाह-सा बह चला। नेत्र दावानलके समान प्रज्वलित हो उठे। ऐसे इस महाभयंकर अजगररूपसे ही सपरिकर श्रीकृष्णचन्द्रको ग्रास बना लेनेकी दुरभिसंधि

लेकर अघासुर वहीं उस वन-पथमें लेट गया—

इति व्यवस्याजगरं बृहद् वपुः स योजनायामम्महाद्रिपीवरम्।
धृत्वाद्भुतं व्याक्तगुहाननं तदा पथि व्यशेत ग्रसनाशया खलः॥
धराधरोष्ठो जलदोत्तरोष्ठो दर्यानिनान्तो गिरिशृङ्गदंष्ट्रः।
ध्वान्तान्तरास्यो वितताध्वजिह्वः परुषानिलश्वासदवेक्षणोष्णः॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। १६-१७)

इमि निस्चै करि सो सुरहंता। भयौ महावपु सरप तुरंता॥
हरि कहँ असन हेतु मति मंदा। अद्भुत वपु सब दुख कौ कंदा॥
जोजन भरि तन पुष्ट कठोरा। गिरि सम तुंग भयानक घोरा॥
मुख जनु गुहा समान पसारा। भूतल अधर एक तिन डारा॥
उत्तर अधर जलद सौं लागा। दाढ़ मनौं गिरि सृंग-बिभागा॥
भीतर अंधकार अति भारी। रसना मनहु पंथ अनुहारी॥

× × ×

नैन हुतासन कुंड तें।रत दुष्ट है। छौड़तु स्वाँस प्रचंड महाबल पुष्ट है॥

इधर गोपशिशु भी दौड़कर, श्रीकृष्णचन्द्रको बहुत पीछे छोड़कर अघासुरके सामने, उसके संनिकट आ गये; उनकी दृष्टि भी उस महासर्पपर जा पड़ी। किंतु सरलमति शिशु अघकी प्रवञ्चनाको क्या जानें! उन सबोंने तो उस अजगर-शरीरको कुछ और ही समझा। उन्हें प्रतीत हुआ—अहा! यह तो वृन्दा-काननकी एक परम अद्भुत शोभा सामने आ गयी—

दृष्ट्वा तं तादृशं सर्वे मत्वा वृन्दावनश्रियम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। १८)

देखि अघासुर रूप, मान्यौं ब्रज सोभा मनहुँ।
अजगर तुंग कुरूप महा भयंकर काल सम॥

इतना ही नहीं, उन निष्पाप शिशुओंने तो कौतुकवश उसकी उत्प्रेक्षा भी आरम्भ कर दी, अजगरके प्रसारित मुखसे वे उस अपनी धारणागत शोभाकी तुलना करने लगे—

व्याक्ताजगरतुण्डेन ह्युत्प्रेक्षन्ते स्म लीलया॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। १८)

मानो वाग्वादिनी उन बालकोंके कण्ठकी ओटसे परम सत्यका संकेत देनेके लिये चञ्चल हो उठीं; पर श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्यलीलामहाशक्तिने सुरसुन्दरीके इस प्रत्येक प्रयासको ही उलट दिया, लीलानिर्वाहके अनुरूप आवरण डालकर, उपमेयको उपमान बनाकर ही व्यक्त होने दिया—इस प्रकार बालक परस्पर चर्चा करने लगे। सबसे आगेवाले शिशुने पश्चाद्वर्ती साथियोंसे कहा—'अरे भैया! बताओ तो सही, हमलोगोंके सम्मुख प्रकाण्ड निश्चल प्राणिविशेषके समान जो एक कोई वस्तु है, वह हम सबको निगल जानेके उद्देश्यसे अजगरके बाये हुए मुख-जैसा प्रतीत होता है या नहीं?' बालकके इस कथनका समर्थन तो होना ही है। क्रमशः इस उक्तिके सुन्दर प्रमाण अन्य शिशुओंने दे डाले। वे बोले—'भैया! तुम सर्वथा सत्य कह रहे हो; यह देखो न, रविरश्मियोंसे अरुणित हुआ मेघमण्डल ठीक-ठीक अजगरके ऊर्ध्व ओष्ठ-सा प्रतीत हो रहा है और फिर उन्हीं रक्तवर्ण मेघोंकी प्रतिच्छाया पड़कर भूमि ऐसी रक्ताभ बन रही है, मानो उस महासर्पका निम्न ओष्ठ हो। वाम एवं दक्षिण पार्श्वकी कन्दराएँ जबड़ोंकी होड़ कर रही हैं, यह उन्नत शिखरश्रेणी उसके दन्तसमूह-जैसी बन गयी है। यह सम्मुखवर्ती सुविस्तृत वनपथ अजगरकी रसनाके समान प्रतीत हो रहा है; गिरिशृङ्गोंका मध्यवर्ती अन्धकार उसके मुखविवरका आन्तरिक शून्यभाग-सा जान पड़ रहा है। अरे और भी देखो! दावाग्निके सम्पर्कसे उष्ण एवं कर्कश वायु अजगरके श्वास-जैसी बन गयी है, वनवह्निसे संदग्ध हुए वन्य जन्तुओंकी दुर्गन्ध भी ठीक ऐसी लग रही है, मानो उसके उदरकी आमिषगन्ध हो—

अहो मित्राणि गदत सत्त्वकूटं पुरःस्थितम्।
अस्मत्संग्रसनव्यात्तव्यालतुण्डायते न वा॥
सत्यमर्ककरारक्तमुत्तराहनुवद्घनम्।
अधराहनुवद् रोधस्तत्प्रतिच्छाययारुणम्॥
प्रतिस्पर्धेते सृक्किभ्यां सव्यासव्ये नगोदरे।
तुङ्गशृङ्गालयोऽप्येतास्तद्दंष्ट्राभिश्च पश्यत॥
आस्तृतायाममार्गोऽयं रसनां प्रतिगर्जति।
एषामन्तर्गतं ध्वान्तमेतदप्यन्तराननम्॥
दावोष्णखरवातोऽयं श्वासवद् भाति पश्यत।
तद्गन्धसत्त्वदुर्गन्धोऽप्यन्तरामिषगन्धवत्॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। १९—२३)

अहो मित्र देखहु एहि आई। अहै जंतु कोउ, कै गिरि, भाई॥
नाथ नाथ करुनानिधि देवा। करत मनहु यह करिहि करेवा॥
सखा जंतु सो लगै कि नाहीं। रह्यौ पसारि बदन तौ चाही॥
बालन सहित हमै किन खाई। बाइ रह्यौ मुख सरिस लखाई॥
निस्चै रबि कर अरुन समूहा। घन सो परसि लगत धर ब्यूहा॥
तेहि प्रतिछया थिर सब ठामू। लगत ओड सम सुंदर धामू॥
सब्यासब्य नगोदर माहीं। सुक्तनि दोइ सरिस सम छाहीं॥
तुंग सृंग राजी इमि राजत। द्विज-सोभा सम सुंदर भ्राजत॥
पथ यह सुभग देखियै कैसौ। रसना-सरिस लगत लखु जैसौ॥
सृंग मध्य तम अतिसै भारी। जनु मुख मध्य अहै अँधिआरी॥
दाद उष्न खर बात यह भासत स्वास-समान।
सखा लखौ यह सर्प-सौ जान्यौ जात प्रमान॥
जरयौ सत्व दावा महँ कोऊ। ता सम दुष्ट गंध यह जोऊ॥

इस प्रकार कहते हुए गोपशिशु उसी दिशामें अग्रसर होते चले गये, अघके और भी निकट जा पहुँचे! अचानक किंचित्-वयस्क एक बालक सबका ध्यान उस ओर ही आकर्षितकर बोल उठा—'अच्छा मित्रो! कदाचित् यह सचमुच ही अजगर हो और इस अजगरके मुखमें हम सभी प्रविष्ट हो जायँ तो यह क्या हमें ग्रास कर लेगा?'—

अस्मान् किमत्र ग्रसिता निविष्टान्।

किंतु सखा-मण्डलीसे इसका उत्तर प्राप्त होनेमें भी तनिक विलम्ब नहीं हुआ। एक परम चञ्चल छोटे-से बालकने ही समाधान कर दिया—

अयं तथा चेद् बकवद् विनङ्क्ष्यति।
क्षणादनेनेति.....॥

'यदि यह ऐसा करेगा तो कनू भैयाके द्वारा बककी भाँति क्षणमें ही मार दिया जायगा।'

ग्रसै हमैं तौ बक-गति पैहै।

फिर तो शिशुओंके मुखपर एक नवीन उत्साहकी लहर नाच उठी। इस पुरोवर्ती गिरिकन्दरमें प्रवेश करनेकी, इस नये सुन्दर कौतुकसे मनोरञ्जन करनेकी वासना भला, किस बालकको न होगी! समस्त शिशु एक साथ समान उत्कण्ठाकी डोरीमें बँधकर खिंचने लगे। पर्वत-गुहाके अन्तर्भागमें प्रविष्ट होकर क्रीड़ा करनेकी लालसासे सबने प्रथम तो अविलम्ब अपने गोवत्ससमूह अघके विशाल मुखमें हाँक दिये, गोवत्स-राशि सुरसरिधाराकी भाँति अघरूपी गिरिदरीमें प्रविष्ट होने लगी। यह हो जानेके अनन्तर प्रत्येक शिशुने ही एक बार अपने प्राणाधिक प्रिय सखा श्रीकृष्णचन्द्रके कमनीय मुखारविन्दकी ओर दृष्टि डाली। दृष्टि पड़ते ही अन्तरका आनन्द बड़े वेगसे उच्छ्वसित हो उठा; सबके मुख उज्ज्वल हास्यसे आलोकित हो उठे। इसके पश्चात् तो विलम्ब क्यों हो, देखते-ही-देखते वे सब-के-सब हँसते, करताली देते अघके मुखमें जा घुसे—

.....वकार्युशन्मुखं वीक्ष्योद्धसन्तः करताडनैर्ययुः॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। २४)

अब कहीं श्रीकृष्णचन्द्रका ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। इससे पूर्व तो वे न जाने कौन-से लीला-राज्यमें मन-ही-मन विचरण कर रहे थे, अपने अनन्त ऐश्वर्यपर बाल्यावेशकी चादर डाले, उसे आवृत किये, परम मनोहर बाल्यलीलाविहारके सुखसिन्धुमें संतरण कर रहे थे, तटसे अत्यन्त सुदूर कहाँ-से-कहाँ बहते जा रहे थे। किंतु सहसा चादरके एक छिद्रसे झाँककर उनकी सर्वज्ञता-शक्तिने अघासुरकी उपस्थितिको, उसकी दुरभिसंधिको देख लिया और श्रीकृष्णचन्द्र अपने सर्वान्तर्यामी स्वरूपमें अवस्थित हो गये। उपस्थित तो वे पहले भी थे ही, नहीं-नहीं नित्य हैं ही। उन्होंने तो खेलनेके उद्देश्यसे बाल्यभावके दुकूलद्वारा उसे ढँक रखा था। बस, दुकूलको तनिक-सा हटा लिया और वह स्वरूप व्यक्त हो गया। अस्तु, अब सर्वभूतहृत्स्थित श्रीकृष्णचन्द्रने सब कुछ जान लिया; कालका व्यवधान वहाँ कहाँ। उन्होंने तो क्षणभर पूर्व शिशुओंके द्वारा की हुई उत्प्रेक्षाएँ भी सुन लीं, शिशु परस्पर भ्रमपूर्ण आलाप कर रहे हैं, प्रकृत अजगरको ये सब वृन्दाकाननकी शोभा मान रहे हैं, सत्य इनके लिये असत्य बन रहा है और वास्तवमें तो यह अजगर भी नहीं, अघासुर है—ये सब बातें प्रत्यक्ष हो गयीं। और अब पहले तो उन्हें अपने सखाओंको अघके मुखमें प्रविष्ट होनेसे

रोकना जो है। मानो लीलाप्रवाह क्षणभरके लिये पीछेकी ओर लौट आया और स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने गोपशिशुओंको निवारण करनेका निश्चय किया—

इत्थं मिथोऽतथ्यमतज्ज्ञभाषितं
श्रुत्वा विचिन्त्येत्यमृषा मृषायते।
रक्षो विदित्वाखिलभूतहृत्स्थितः
स्वानां निरोद्धुं भगवान् मनो दधे॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। २५)

स्नेह एवं आर्तिमिश्रित स्वरमें श्रीकृष्णचन्द्र पुकार उठे—

मा विशत मा विशत भो व्यालोऽयं व्यालोऽयमिति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'भैयाओ हो! मत घुसो, मत घुसो; यह सर्प है, सर्प है!' किंतु इतनेमें तो शिशु अघके उदरमें प्रविष्ट हो चुके।

तावत् प्रविष्टास्त्वसुरोदरान्तरम्।

और प्रवेश करते ही विषकी ज्वालासे उनकी समस्त इन्द्रियवृत्ति विलुप्त हो गयी, श्रीकृष्णचन्द्रमें आकर एकाकार हो गयी। इस अवस्थामें उनकी पुकारको कोई सुने भी तो कौन सुने।—

आननप्रवेशमात्रेणैव विषज्वालया लयारूढसकलेन्द्रियाः
कृष्ण एवासन् कैः श्रोतव्यं तद्वचनम्।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अस्तु, इस ओर गोशावक एवं गोपशिशुओंके मुखमें प्रविष्ट हो जानेपर भी अघने उन्हें निगल नहीं लिया।

परं न गीर्णाः शिशवः सवत्साः·····

निगले कैसे? वह तो अपने स्वजनोंका वध स्मरणकर प्रतिशोध लेनेकी भावनासे वक-शत्रु श्रीकृष्णचन्द्रके भी अपने मुखमें प्रविष्ट हो जानेकी प्रतीक्षा जो कर रहा है—

·····वकारिवेशनं हतस्वकान्तस्मरणेन रक्षसा॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। २६)

सबको अभयदान करनेवाले श्रीकृष्णचन्द्र इस घटनाको देख रहे हैं। केवल द्रष्टारूपसे देखभर रहे हों, यह बात नहीं। उन सर्वचिन्ताहारी श्रीहरिको तो इस समय भारी चिन्ता लग रही है। वे सोच रहे हैं—'आह! एकमात्र मैं ही जिनका रक्षक हूँ, वे दीन गोपशिशु मेरे हाथसे निकलकर, मेरे संरक्षणसे बाहर जाकर मृत्युकी जठराग्निमें आहुति बन गये!'—उनके अनन्त, पारावारविहीन कृपासिन्धुको उद्वेलित कर देनेके लिये यह स्पन्दन कम नहीं, बहुत-बहुत पर्याप्त है। सचमुच श्रीकृष्णचन्द्र अपने सहचरोंको इस प्रकार विपन्न देखकर अपनी ही कृपाकी ऊर्मियोंमें बह चलते हैं। साथ ही अनन्त लीलामयको अतिशय विस्मय भी हो रहा है—'ओह! दैवकी कैसी विचित्र लीला है, इन गोपशिशुओंके प्रारब्धकी कितनी विचित्र परिणति है!'

तान् वीक्ष्य कृष्णः सकलाभयप्रदो
ह्यनन्यनाथान् स्वकरादवच्युतान्।
दीनांश्च मृत्योर्जठराग्निघासान्
घृणार्दितो दिष्टकृतेन विस्मितः॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। २७)

अखिललोक भय नासक जोई।
लखि बालक बिस्मय कर सोई॥
दैव प्रबल गति कहि जदुनंदा।
निज जन सोच करत सुखकंदा॥
जठरानल कौ ग्रासु, भए बाल-बछरा सकल।
यह बिचारि चित आसु, करुनाकर जान्यौ अहित॥

जो सत्यसंकल्प हैं, जिनके दिव्य चिन्मय मानसतलमें किसी भी संकल्पका उन्मेष होते ही वह तत्क्षण संघटित हो जाता है, वे ही श्रीकृष्णचन्द्र इस समय अपने सखाओंकी प्राणरक्षाके लिये संकल्प-विकल्पके स्रोतमें बहे-से चले जा रहे हैं। उनके लिये एक समस्या-सी बन गयी है—

कृत्यं किमत्रास्य खलस्य जीवनं न वा अमीषां च सतां विहिंसनम्।

'अब करना क्या चाहिये? इस दुष्ट अघका जीवन न रहे और इन सरलमति गोपशिशुओंकी भी हत्या न हो?'

ये दोनों बातें एक साथ कैसे सम्पन्न हों—श्रीकृष्णचन्द्र इस समस्यामें व्यस्त हो रहे हैं। वास्तवमें तो यह भी ऐश्वर्यसम्पुटित लीलाकी एक लहरीमात्र ही है। अन्यथा जो सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा हैं, उनके लिये क्या तो उलझन है और क्या सुलझन। जो हो, श्रीहरि—दुष्टोंके प्राणहारी श्रीकृष्णचन्द्र पुनः-पुनः इस प्रश्नपर सम्यक् रीतिसे विचार करते हैं और जब स्वयं अशेषदृग् ही उपाय निर्धारण करने चले हैं, तब उपाय क्यों नहीं मिले? उनकी अचिन्त्यलीलामहाशक्तिने तो लीलाक्रम निर्धारित कर ही रखा है। श्रीकृष्णचन्द्र, बस, उस क्रमकी ओर देख लेते हैं; उन्हें भी अघके मुखमें प्रविष्ट हो जाना चाहिये, यही अग्रिम क्रम है, यही उपाय है।—श्रीकृष्णचन्द्र यह जान लेते हैं। इसका अनुसरण भी उन्हें करना ही है, वे करते ही हैं। देखते-ही-देखते वे अघासुरको परम अभिलषितका दान करते हुए उसके मुखविवरमें स्वयं भी घुस जाते हैं—

इयं कथं स्यादिति संविचिन्त्य
तज्ज्ञात्वाविशत्तुण्डमशेषदृग्घरिः ॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। २८)

करि बिचार सर्बग्य सुजाना। अहि मुख पैठे कृपानिधाना॥
परम पुरुष भक्तन सुखदाता। दीनबंधु सरनागत त्राता॥

अन्तरिक्ष देवोंके हाहाकारसे पूर्ण हो उठता है। देवोंमें यह साहस नहीं कि अघासुरके समक्ष वे स्वतन्त्रभावसे आकाशमें अवस्थित भी हो सकें। इसीलिये वे अपनेको मेघसमूहोंमें छिपाये रखकर ही श्रीकृष्णचन्द्रकी लीला देख रहे थे। पर जब श्रीकृष्णचन्द्र ही अघासुरके ग्रास बन गये, उसके मुखमें प्रविष्ट हो गये, तब फिर अघासुरके हाथ देवजगत्का विनाश अवश्यम्भावी है ही। अमरमण्डल इसलिये ही चीत्कार कर उठा—

तदा घनच्छदा देवा भयाद्धाहेति चुक्रुशुः।

और इधर राक्षस गुप्तचरोंने विद्युत्-वेगसे दौड़कर मधुपुरके अधीश्वर कंसको घटनाकी सूचना दे दी, सपरिकर नन्दपुत्र अघासुरके मुखमें समा गये, यह समाचार क्षणोंमें ही अघके सुहृद् कंस आदि राक्षसवर्गको प्राप्त हो गया। फिर तो मधुपुरका राजसदन राक्षसोंके आनन्द-कोलाहलसे गूँज उठा—

जहृषुर्ये च कंसाद्याः कौणपास्त्वघबान्धवाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। २९)

अमरवृन्दका आर्तनाद, असुरवर्गकी आनन्दध्वनि—दोनों ही अघके मुखमें प्रविष्ट श्रीकृष्णचन्द्रके कर्णरन्ध्रोंमें जा पहुँचीं। उन्होंने सब सुन लिया। वे क्यों नहीं सुनते? जैसे वहाँ उनके समीप काल-व्यवधान नहीं, वैसे देश-व्यवधान भी नहीं। साथ ही वे तो नित्य अव्यय—सर्वथा क्षय-रहित हैं। अघासुरकी विषज्वाला उन्हें दग्ध नहीं कर सकती। वे वहाँ भयानक विषकी अग्निमें भी वैसे ही शीतल-शान्त-अक्षुण्ण बने हैं, अघकी अग्रिम चेष्टाकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। उन्हें अधिक प्रतीक्षा भी नहीं करनी पड़ती; क्योंकि उनके मनमें सुरसमुदायके हाहाकार एवं असुरोंकी हर्षध्वनिके क्रमको बदल देनेकी, राक्षसकुलमें चीत्कारका झंझावात एवं विबुधवृन्दमें आनन्दरवका प्रबल प्रवाह प्रवाहित करनेकी इच्छा जाग्रत् हो गयी। इस इच्छाकी ही प्रतिच्छाया मानो अघपर पड़ गयी; वह गोपशिशु, गोशावकोंके सहित श्रीकृष्णचन्द्रको चूर्ण-विचूर्ण कर देनेके अभिप्रायसे अपना मुखविवर संवरण करने चला, नीचे और ऊपरके ओठोंको सटाकर मुख मूँद लेनेके लिये उद्यत हुआ। बस, श्रीकृष्णचन्द्र इसीकी प्रतीक्षा कर रहे थे। फिर तो, उनकी ओरसे भी समयोचित चेष्टा आरम्भ हो गयी। अघके अधरोष्ठ किंचिन्मात्र स्पन्दित होते न-होते श्रीकृष्णचन्द्रने अत्यन्त स्थूल एवं सुदीर्घ शरीर धारण कर लिया—इतना विशाल शरीर कि अघासुरके गलेका वह प्रकाण्ड छिद्र सर्वथा सब ओरसे अवरुद्ध हो गया। क्षणार्द्ध बीतनेसे भी बहुत पूर्व श्रीकृष्णचन्द्र सहसा इतने बढ़ गये—

तच्छ्रुत्वा भगवान् कृष्णस्त्वव्ययः सार्भवत्सकम्।
चूर्णीचिकीर्षोरात्मानं तरसा ववृधे गले॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ३०)

परिणाम यह हुआ कि उस प्रचण्डकाय दैत्यका कण्ठ रुद्ध हो गया, नेत्र बाहर निकल आये। वह अतिशय व्याकुल होकर छटपट करने लगा। श्वास बाहर आनेका मार्ग तो रुक चुका। प्राणवायु शरीरमें ही संचित होने लगी, सम्पूर्ण शरीर वायुपूरित हो उठा। किंतु प्राणोंको तो बाहर निकलना ही है, कोई-न-कोई मार्ग चाहिये ही। अन्तमें उन्हें दशम द्वार ही मिला। अघासुरके प्राण उसके ब्रह्मरन्ध्रका भेदन कर तत्क्षण बाहर निकल गये—

ततोऽतिकायस्य निरुद्धमार्गिणो
हृद्गीर्णदृष्टेर्भ्रमतस्त्वितस्ततः ।
पूर्णोऽन्तरर्द्धे पवनो निरुद्धो
मूर्धन् विनिष्पाद्य विनिर्गतो बहिः॥
(श्रीमद्भा० १०। १२। ३१)

अति दीरघ बपु बढ़े कृपाला।
असुर स्वास रुकि गौ तेहि काला॥
भ्रमै प्रान ब्याकुल बिसुधारी।
उलटे नयन गिरे भू भारी॥
पवन रह्यौ रुकि, छिद्र न पावा।
दसम द्वार छिदि बाहर आवा॥
बल बिपुल उरुझाड़, भुज-अंग जब बाढ़,
खल परिय हिय गाढ़, सहि सकै किमि भार॥
रुकि स्वाँस परचंड, हति तेज उद्दंड,
सिर फूट सत खंड, सठ ह्वै गयौ छार॥

प्राणोंके साथ ही अघासुरकी इन्द्रियाँ भी बाहर आ गयीं—समस्त इन्द्रिय-शक्ति विलुप्त हो गयी। यह हो चुकनेके अनन्तर व्रजेन्द्रचन्द्रकी मधुस्निग्ध दृष्टि मृतप्राय शिशुओंपर, गोशावकोंपर पड़ी। उस अमृतवर्षिणी दृष्टिके स्पर्शमात्रकी देर थी, शिशु एवं गोशावकोंमें नवजीवन संचारित हो गया। अब श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ क्यों रुकें? सबको साथ लिये वे मुखविवरके द्वारसे बाहर चले आये—

तेनैव सर्वेषु बहिर्गतेषु
प्राणेषु वत्सान् सुहृदः परेतान्।
दृष्ट्वा स्वयोत्थाप्य तदन्वितः पुन-
र्मन्मुखान्मुकुन्दो भगवान् विनिर्ययौ॥
(श्रीमद्भा० १०। १२। ३२)

इस प्रकार अत्यन्त अधम अघदैत्यका उद्धार हुआ। उसे क्या गति मिली, उसकी चरम परिणति कैसी हुई—यह भी उसी क्षण स्पष्ट हो गया। उस महास्थूल सर्प-कलेवरसे एक परम अद्भुत, परमोज्ज्वल ज्योति निर्गत हुई थी। अपनी प्रभासे दसों दिशाओंको आलोकित करती हुई, श्रीकृष्णचन्द्रके बाहर आ जानेकी प्रतीक्षा लिये, आकाशमें ही वह अवस्थित रही तथा जैसे ही श्रीकृष्णचन्द्र बाहर आये, वैसे ही वह उनके महामरकतश्यामल श्रीअङ्गोंमें विलीन हो गयी। किसी गुप्त—अस्पष्ट रूपसे नहीं, समस्त स्वर्वासी देवोंके प्रत्यक्ष देखते हुए ही—

पीनाहिभोगोत्थितमद्भुतं महः-
ज्योतिः स्वधाम्ना ज्वलयद् दिशो दश।
प्रतीक्ष्य खेऽवस्थितमीशनिर्गमं
विवेश तस्मिन् मिषतां दिवौकसाम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १२। ३३)

निकसि ज्योति अंबर में गई। दामिनि-सी फिरि ठाढ़ी भई॥
जब लगि नंद-सुवन गोबिंद। बछरा अरु ब्रज-बालक-बृंद॥
अमृत-दृष्टि करि सींचि जिवाई। लै आए बाहिर इहि भाई॥
तब लौं रही गगन में जोति। सब दिसि जगमग-जगमग होति॥
उलका ज्यौं तहँ तैं उलटानी। आनँद भरि हरि मौंझ समानी॥

अघासुरके पूर्वजन्मका वृत्तान्त; अघासुरके वधपर देववर्गके द्वारा श्रीकृष्णका अभिनन्दन

एक दिन यही अघदैत्य शङ्खासुरका पुत्र था, देखनेमें अत्यन्त सुन्दर था। कामदेव-जैसी शोभा इसके अङ्गोंसे झरती रहती थी। पर था यह अतिशय अभिमानी। रूपके गर्वने इसे अंधा बना दिया था। बाह्य सौन्दर्यके अभावमें भी कोई आदरणीय, वन्दनीय हो सकता है—यह विवेकशक्ति यौवनके उन्मादने हर ली थी। ऐसे रूपमदोद्धत युवक असुरको अष्टावक्र मुनिकी आकृति देखकर हँसी न आवे, यह भी कभी सम्भव है? मुनिपर दृष्टि पड़ते ही वह हँस पड़ा। उसकी विकट हँसी मलयाचलशृङ्गोंमें प्रतिनादित हो उठी—मानो चन्दनवनसे नित्य शीतल मलयगिरिके अन्तस्तलमें भी इस महदपराधसे रोषका आविर्भाव हो गया हो और वह महीधर गरज उठा हो! अष्टावक्रका ध्यान तो उस ओर था ही नहीं, वे तो अपनी धुनमें अपने टेढ़े-मेढ़े शरीरकी स्वाभाविक वङ्किम गतिसे नीची दृष्टि किये चलते जा रहे थे। सहसा कानोंमें घृणाभरी ध्वनि आयी—'अरे, यह महाकुरूप है!' फिर तो मुनिके नेत्र ऊपर उठ गये। इस उक्तिका लक्ष्य कौन है, यह समझते उन्हें देर नहीं लगी। उनकी आँखें लाल हो आयीं। उन-जैसे वीतराग मुनिजनोंमें भी क्रोधका अवकाश है, यह कल्पना नितान्त निरर्थक है। उनका यह क्षोभ तो स्वयंभगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी अचिन्त्यलीला-महाशक्तिने सुदूर भविष्यकी भगवदीय लीलाका आयोजन करने जाकर मुनिके मनको अपना यन्त्र बना लिया—इसका एक निदर्शनमात्र है। जो हो, अन्तरका यह रोष वाग्वज्र बनकर बाहर निकला। मुनिश्रेष्ठ अष्टावक्र बोल उठे—

.....त्वं सर्पो भव दुर्मते।
कुरूपा वक्रगा जातिः सर्पाणां भूमिमण्डले॥

'रे दुष्टबुद्धि, जा, सर्प बन जा। भूमण्डलपर सर्पोंकी जाति ही कुरूप एवं कुटिल गतिवाली होती है।'

शङ्खासुर-तनयके रूपगर्वको चूर्ण-विचूर्ण कर देनेके लिये इतना पर्याप्त था। तत्क्षण ही वह मुनिके चरणोंमें लोट गया। अब अग्रिम कृपाप्रसाद प्राप्त होनेमें विलम्ब क्यों हो? अष्टावक्रने प्रच्छन्न अनुग्रहकी सूचना दे दी—'जिस दिन कोटिकंदर्पलावण्य श्रीकृष्णचन्द्र तुम्हारी उदरदरीमें प्रवेश करेंगे, उस दिन तुम्हारी सर्पयोनि छूट जायगी।'

कोटिकंदर्पलावण्यः श्रीकृष्णस्तु तवोदरे।
यदा गच्छेत् सर्परूपात्तदा मुक्तिर्भविष्यति॥

इस प्रकार शङ्खासुर-पुत्रके सर्पकलेवरका आरम्भ हुआ। पर आगे चलकर किसी अचिन्त्य कारणवश पुनः उसमें असुरोंकी मायाशक्ति जाग्रत् हो उठी, यथेच्छ रूप धारण करनेकी क्षमता आ गयी और अघ दैत्यके रूपमें वह कंसका विशिष्ट परिकर बना। अवश्य ही सर्पाभिनिवेश उसमें निरन्तर जाग्रत् रहा। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं; अतीतकी घटनाको वह सर्वथा भूल चुका था। मुनिके शापकी, वरदानकी उसे विस्मृति हो गयी थी। नामके अनुरूप ही चेष्टाशील होकर वह अघासुर अपने पापोंका घड़ा भर रहा था और अन्तमें तो अपने त्राताको ही सदलबल वह मुखका ग्रास बना बैठा। फिर भी परिणाम जितना सुन्दर हुआ, उसका तो कहना ही क्या है—

मुनि-दुर्लभ गति दीन, प्रभु परसे कौ फल मिल्यौ।

मुनिकी बात मिथ्या होनेकी ही नहीं थी, सत्य होकर ही रही। अस्तु,

जब श्रीकृष्णचन्द्र अघासुरके मुखसे बाहर निकल आये, फिर तो देववर्गके आनन्दका क्या कहना है! अपना इतना महान् कार्य करनेवाले—अघ-जैसे दैत्यका विनाश कर अभयदान देनेवालेके प्रति उन

अन्तरिक्षवासियोंका हृदय न्योछावर हो गया। उनके अन्तरका भाव-प्रवाह विभिन्न रूपोंमें व्यक्त होने लगा। आनन्दविह्वल हुए देववृन्दने नन्दनकाननके अतिशय सुरभित कुसुमोंकी अञ्जलि भर-भरकर अजस्र सुमन-वृष्टि आरम्भ की। अप्सराएँ छम-छम करती नृत्य करने लगीं। गन्धर्वोंके सुमधुर कण्ठकी स्वरलहरी, विद्याधरोंके वाद्ययन्त्रकी मनोहारिणी झंकृति सर्वत्र परिव्याप्त हो उठी। विप्रकुलका भक्तिपूरित स्तवन, भगवत्पार्षदोंका 'जय-जय' निनाद गगनके कण-कणको मुखरित करने लगा। जिनके पास जो वस्तु थी, जो कला थी, उसकी भेंट समर्पित कर वे श्रीकृष्णचन्द्रका अभिनन्दन करने लगे—

ततोऽतिहृष्टाः स्वकृतोऽकृताहृणं
पुष्पैः सुरा अप्सरसश्च नर्तनैः।
गीतैः सुगा वाद्यधराश्च वाद्यकैः
स्तवैश्च विप्रा जयनिःस्वनैर्गणाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ३४)

लखि प्रभु चरित देव हरषाने।
बरषि सुमन हिय अति सुख माने॥
गान करहिं गंधर्ब प्रबीने।
अप्सर करहिं नृत्य रस-भीने॥
बिबिध भाँति के बजे बधाए।
द्विजबर करत बिनय मन लाए॥
संख-सब्द, जय-सब्द अनेका।
दुंदुभि सुघर एक तें एका॥

भेरीका 'भम्-भम्' रव, पटहपर निरन्तर आघातजनित घोर शब्द, डिण्डिमका अति प्रचण्ड घोष, अविरल दुन्दुभिनाद, गन्धर्व-विद्याधर-किंनर प्रभृतिका सम्मिलित गान, ऋषियोंका स्तोत्रपाठ—ये सभी परस्पर ऐसे मिल गये कि कुछ क्षण तो देवसमुदायकी श्रोत्रशक्ति अन्य किसी भी शब्दको ग्रहण करनेमें सर्वथा कुण्ठित हो गयी—

भेरीभांकाररावैः पटुपटहघनाघातसंघातघोरै-
रुच्चण्डैर्डिंण्डिमानां ध्वनिभिरविरलैर्दुन्दुभीनां प्रणादैः।
गानैर्गन्धर्वविद्याधरतुरगमुखप्रेक्षणीनां मुनीनां स्तोत्रैः
शब्दान्तरेषु क्षणमिव बधिराः स्वर्गिणस्तेऽभवन्नु॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

सचमुच अमरनगरी मानो इस प्रमोद-प्रवाहमें निमग्न होकर मत्त हो उठी—

मत्तेवासीदमरनगरी सागरीयप्रमोदैः।

अमरावतीका यह आनन्दोच्छ्वास जनलोक, महर्लोक, तपोलोकको मुखरित करते हुए सत्यलोकको स्पर्श करने लगा। जगत्स्रष्टा पितामहकी सृजन-समाधि टूटी। आठों कर्णरन्ध्र देवोंके इस तुमुल आनन्द-कोलाहलसे पूर्ण हो उठे। पितामहके आश्चर्यका पार नहीं। अकस्मात् विबुधवृन्दकी इस आनन्दद्युतिके कारणका अनुसंधान पानेके लिये वे चञ्चल हो उठे। परम अद्भुत स्तव-पाठ, सुमनोहर वाद्यवादन, रमणीय सङ्गीत-स्वर, जय-जयका विपुल नाद—इन सबसे सब ओर सम्पुटित महामहोत्सव एवं मङ्गलध्वनि, तथा यह भी अपने धामके अत्यन्त संनिकट देशमें ही हो—फिर पद्मयोनि स्थिर कैसे बैठे रहें। वे तुरंत वहाँसे नीचे उतर आये, सबसे अलक्षित रहकर ही नीचे उतरे; पर आ पहुँचे वहीं, उसी आकाशमें, जहाँ—जिसके अञ्चलमें वृन्दाविपिनविहारीके अघासुर-उद्धारका कौतुक अभी-अभी सम्पन्न हो चुका है। आते ही स्रष्टाको कारण ज्ञात हो जाता है तथा स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी ऐसी महिमा प्रत्यक्ष निहारकर उनके आश्चर्यकी सीमा नहीं रहती—

तदद्भुतस्तोत्रसुवाद्यगीतिका-
जयादिनैकोत्सवमङ्गलस्वनान्।
श्रुत्वा स्वधाम्नोऽन्यज आगतोऽचिराद्
दृष्ट्वा महीशस्य जगाम विस्मयम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ३५)

अत्यन्त कलुषपूर्ण महाघृणित जीवन बितानेवाले, एकमात्र परपीड़नका ही व्रत निभानेवाले अघासुरको ऐसी योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्लभ गति मिली! क्षणोंमें ही तो उसे श्रीकृष्णचन्द्रके चारु श्रीचरणोंका स्पर्श प्राप्त हो गया, समस्त कल्मषराशि ध्वस्त हो गयी और अभक्तोंके लिये सुदुर्लभ सौभाग्य—भगवत्सारूप्य

गतिकी प्राप्ति हो गयी! किसे विस्मय नहीं होगा? पर वास्तवमें आश्चर्यकी बात कुछ भी नहीं। जो सर्वस्रष्टा, सर्वनियन्ता, सर्वावतारावतारी हैं, उन स्वयंभगवान् नरबालकलीला श्रीकृष्णचन्द्रके लिये ऐसी अयाचित कृपाका दान सर्वथा सम्भव है—

नैतद् विचित्रं मनुजार्भमायिनः
परावराणां परमस्य वेधसः।
अघोऽपि यत्स्पर्शनधौतपातकः
प्रापात्मसाम्यं त्वसतां सुदुर्लभम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १२। ३८)

जिनके श्रीविग्रहकी मानस-प्रतिमाको ही केवल एक बार क्षणकालमात्रके लिये हृदयमें धारण कर लेनेके कारण न जाने कितनोंको परमभक्तजनोचित गतिकी प्राप्ति हो चुकी है, जिनकी मानसिक मूर्तिमें—अपनी भावनासे कल्पित, ध्यानपथमें क्षणमात्रके लिये उतरी हुई प्रतिकृतिमें ही ऐसी सुदुर्लभ गति दे देनेकी सामर्थ्य है, वे श्रीकृष्णचन्द्र, नित्यसिद्ध परमानन्दघनविग्रह व्रजेन्द्रनन्दन, स्वरूपानन्दास्वादन-परायण मायातीत श्रीहरि जब स्वयं उस अघासुरके मुखविवरमें प्रविष्ट हो गये तब फिर अवशिष्ट ही क्या रहा? स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रको ही मुखमें धारण करनेवाले अघको यदि ऐसी परम सुन्दर गति मिले तो इसमें क्या आश्चर्य है? कुछ भी विचित्रता नहीं—

सकृद् यदङ्गप्रतिमान्तराहिता
मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम्।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यधि-
व्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुनः॥
(श्रीमद्भा० १०। १२। ३९)

जो अखिलेस, परावर स्वामी।
सकल-नियंता, अंतरजामी॥
माया-मनुज, लोक-तनुधारी।
करयौ कर्म निज जन हितकारी॥
नहिं आचरज मानियहु कबहूँ।
भयौ अघासुर पावन अजहूँ॥
महा अघी, पाँवर सब भाँती।
परसि अंग लहि सुगति सुहाती॥
प्रतिमा जासु मनोपड़ कोऊ।
ध्यान करै कैसौ किन होऊ॥
लहै सुगति सो बिनहिं प्रयासा।
कंचन बपु सुत से अनयासा॥
सदा नित्य सुख प्रभु भगवंता।
सो प्रख्यात लोक श्रीकंता॥
तासु अंग परसत भा पावन।
महा अघी यह देव-सतावन॥
तौ आचरज कहा एहि माहीं।
नाम लेत अघ कोटि नसाहीं॥

और तो क्या, अघका वह महामलिन शरीर भी व्रजराजनन्दनकी सेवाका उपकरण बना। ऋषि-महर्षि केवल क्षणभरके लिये ध्यानपथमें ही जिनकी चरणरजकणिकाका स्पर्श पानेके लिये लालायित रहते हैं, वे श्रीकृष्णचन्द्र अघके उस सर्पकलेवरमें बहुत दिनोंतक सखाओंके साथ क्रीड़ा करते रहे, श्रीकृष्णचन्द्रके प्राणप्रिय सखाओंके खेलनेके लिये वह सर्प-शरीर शुष्क होकर गुफा-सा बन गया, वृन्दावनमें उन शिशुओंको विहारके उपयुक्त मानो एक परम सुन्दर अद्भुत गिरिकन्दरा प्राप्त हो गयी—

राजन्नाजगरं चर्म शुष्कं वृन्दावनेऽद्भुतम्।
व्रजौकसां बहुतिथं बभूवाक्रीडगह्वरम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १२। ३६)

हे नृप अजगर चर्म सुखाना।
ब्रज-बालन कहँ खेल-सुथाना॥
क्रीडा हेतु महा बिल मानी।
खेलहिं बालक अति सुख मानी॥

किंतु सर्पगुफाकी क्रीड़ा आज अभी आरम्भ नहीं हुई। यह तो आजसे एक वर्षके अनन्तर आरम्भ होगी। ऐसी क्रीड़ा तभी सम्भव है, जब श्रीकृष्णचन्द्रके सखा उनके साथमें हों। पर सखामण्डली तो आज अभी कुछ घड़ीके अनन्तर ही ठीक एक वर्षके लिये विश्राम करेगी, वर्षव्यापी निद्रासुखका अनुभव करने जायगी, सदाकी भाँति आज संध्या-समय शिशुओंका

व्रजप्रवेश नहीं होगा, अघासुर-उद्धारकी इतनी बड़ी घटनाकी गन्धतक किसी भी व्रजगोप, गोपसुन्दरीको एक वर्षके लिये न मिलेगी। गोपशिशु श्रीकृष्णचन्द्रकी इस कौमारलीला—अघमोक्षणकी चर्चा व्रजमें करेंगे अवश्य, पर करेंगे उस समय जब बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रकी आयुका पौगण्डकाल आयेगा। आजकी घटित घटनाको वे सब एक वर्षके पश्चात् व्रजमें जाकर सुनायेंगे और ऐसे सुनायेंगे मानो उस दिन ही—अभी-अभी अघका विनाश हुआ हो, आज ही अघको सदाके लिये विदा कर वे सब संध्यासमय व्रज लौटे हों, इतनी नवीन घटना हो—

एतत् कौमारजं कर्म हरेरात्माहिमोक्षणम्।
मृत्योः पौगण्डके बाला दृष्ट्वोचुर्विस्मिता व्रजे॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ३७)

यह कुमार-वय-कृत हरि-करमा।
अहि-मोचन रक्षन जन धरमा॥
कृत कुमार-वय कर्म सब अहि-मोचन प्रभु कीन।
सो पौगंड बिषै कही लरिकन्ह अबहिं नवीन॥

इसी एक वर्षमें—श्रीकृष्णचन्द्रके कौमार-पौगण्डके मध्यकालमें विश्वको चमत्कृत कर देनेवाली ब्रह्ममोहनलीला होगी और अब उसीकी प्रस्तावना करने श्रीकृष्णचन्द्र तरणितनया श्रीयमुनाके प्रवाहकी ओर चल पड़ते हैं। इसी समय श्रीकृष्णचन्द्रके स्तवनसे—ऐश्वर्य-कीर्तनसे अपने-आपको कृतार्थ कर लेनेके लिये गिराधिदेवी गोपशिशुओंके कण्ठका आश्रय ग्रहण करती हैं, अपनी अमित शक्ति वहाँ भर देती हैं। पर शिशुओंके अन्तस्तलसे अनर्गल प्रवाहित सख्यरसकी प्रबल धारामें सुरसुन्दरीके भाव कहाँ-से-कहाँ बह जाते हैं। वे सब तो अपनी धुनमें अपने भावसे अपने कोटि-कोटि-प्राणप्रतिम सखा कन्हैया भैयाके बल-वीर्यकी प्रशंसा करना चाहते हैं, कर रहे हैं, करते अघाते नहीं और सरस्वती उनके गीति-प्रवाहमें श्रीकृष्णचन्द्रका ऐश्वर्य बिखेरने लगती हैं। इसीलिये रह-रहकर बालकोंके मुखसे रससिक्त ऐश्वर्यकणके कुछ छींटे भी गिर ही जाते हैं। शिशु ही तो ठहरे। वे सब कितनी बार देख चुके हैं, जननी यशोदाके समक्ष उनकी माताएँ किस भाँति उनके नीलमणिकी प्रशंसा करती हैं! उस प्रणालीका अनुकरण तो इनके लिये स्वाभाविक है, वे करेंगे ही और वहीं हंसवाहिनीको अवकाश भी मिल ही जाता है। जो हो, परमानन्दमें विभोर, श्रीयमुनाकी ओर अग्रसर होते हुए बालक अपने कन्हैया भैयाकी कीर्ति एक-दूसरेको सुना रहे हैं—

धन्य कान्ह, धनि नंद, धन्य जसुमति महतारी।
धन्य लियौ अवतार, कोखि धनि जहँ दैतारी॥
गिरि-समान तन अगम अति, पंनगकी अनुहारि।
हम देखत पल एक में मार्‌यौ दनुज प्रचारि॥

और श्रीकृष्णचन्द्र? ओह! जय हो लीलामयकी लीलाकी! वे तो अघासुर-विजयका सम्पूर्ण श्रेय अपने सखाओंको ही देते जा रहे हैं—

हरि हँसि बोले बैन, संग जौ तुम नहिं होते।
तुम सब कियौ सहाइ, भयौ तब कारज मोते॥

गोप-बालकोंके साथ श्रीकृष्णका वन-भोजन तथा भोजनके साथ-साथ मधुरातिमधुर कौतुक एवं कौशलपूर्ण विनोद

गोप-शिशुओंके प्रेमिल स्तवनका विराम हुआ। मानो गिराधिदेवी सच्चिदानन्द परब्रह्म पुरुषोत्तम स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके ऐश्वर्यसिन्धुमें एवं शिशुओंके कण-कणसे प्रसरित सख्यरसके निरविल चञ्चल प्रवाहमें अवगाहनकर अपनी शक्तिभर ऐश्वर्यकण, रस-सीकर उलीचकर परिश्रान्त हो गयीं; सिन्धुको, रसप्रवाहको सर्वथा सब ओरसे अपरिसीम अनुभव कर, इनकी थाह पानेकी आशा छोड़, तटपर उठ आयीं, इस प्रकार बालकोंने अपने कन्हैया भैयाके यशोगानका उपसंहार किया। अब वहाँ बच रही केवल सख्यभावकी सहज स्निग्ध शान्त धारा, जिसमें श्रीकृष्णचन्द्रके अमित ऐश्वर्यका एक कण भी खप नहीं सकता। इसकी गन्ध भी वहाँ नहीं मिल सकती। इसीलिये बालकोंकी भावभङ्गी, उनकी प्रश्नावली, परस्परका उत्तर-प्रत्युत्तर—ये सब भी बदल गये। एक शिशुने पूछ ही तो लिया—'अरे भैया कन्हैया! हमलोग तो खेलते-खेलते अत्यन्त भीषण विषकी ज्वालामें भस्म हो चुके थे। बता तो सही, तुमने कैसे जिला दिया?' तथा सखा श्रीकृष्णचन्द्रने भी प्रश्नके अनुरूप ही उत्तर दिया। वे आश्चर्यकी मुद्रामें बोले—

स च सचमत्कारं तानगददगददक्षोऽस्मि विषस्य। येनागदेन नागदेन गन्धमाघ्रादेव गतासवोऽवगतासवोत्सवा इव समुच्छ्वसितजीवना भवन्तीति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'देखो भैयाओ! मैं विषकी ओषधि जाननेमें बड़ा ही निपुण हूँ। मेरे पास ऐसी ओषधि है कि उससे सर्प चूर्ण-विचूर्ण हो जायँ—इसमें तो कहना ही क्या है; जो निष्प्राण हो चुके हैं, वे भी उस ओषधिके घ्राणमात्रसे ही मधुपानका सुख अनुभव करनेवाले व्यक्तिकी भाँति परम उल्लासपूर्ण नवजीवन प्राप्त कर लेते हैं।'

श्रीकृष्णचन्द्रके इस उत्तरमें किन-किन निगूढ़ भावोंका समावेश है—इसे, भोले-भाले शिशु क्या जानें? उनके पास क्रान्तदर्शी ऋषियोंका हृदय तो है नहीं कि वे अपने सखाकी प्रत्येक उक्तिका गूढार्थ ढूँढ़ने जायँ। उन्हें कल्पना ही नहीं हो सकती कि अघासुर-जैसे सर्पकी तो बात ही क्या, संसाररूप महासर्पसे डँसे हुए, सर्वथा निश्चेष्ट हुए प्राणियोंके लिये भी उनके इन्हीं कन्हैया भैयाका नाम ही महौषध है, 'कृष्ण' नामकी पीयूषधारा किसी प्रकार कर्णरन्ध्रोंमें प्रविष्ट हो जाय, फिर तो संसार-सर्पका विष उतरते देर नहीं लगती; मुग्धता, मोह, मायाजन्य जडता नष्ट होकर ही रहेगी; आत्मस्वरूपकी स्मृति हो ही जायगी; अनादि-संसरणसे मुक्ति मिल ही जायगी—

संसारसर्पसंदष्टनष्टचेष्टैकभेषजम्।
कृष्णेति वैष्णवं मन्त्रं श्रुत्वा मुक्तो भवेन्नरः॥

वे सरल-मति बालक कभी सोच ही नहीं सकते कि ऐसे सत्य सिद्धान्तोंका संकेत भी उनके कन्हैया भैयाके इन्हीं शब्दोंमें भरा है। उनके अन्तस्तलमें तो निरन्तर विशुद्ध सख्यभावका अनन्त पारावारविहीन सागर हिलोरें ले रहा है। उनकी प्रत्येक चेष्टाकी ओटसे, उनके अणु-अणुसे इस सागरकी लहरें ही निर्झर बनकर झरती रहती हैं, क्षण-क्षणमें एक-से-एक सुन्दर स्रोत बहता रहता है। कदाचित् अवसर-विशेषपर—जैसे अभी-अभी कुछ क्षण पूर्व हो चुका है—किसी अचिन्त्य प्रेरणावश उनके मानस-तलमें उनके सखा श्रीकृष्णचन्द्रके अमित ऐश्वर्यका यत्किञ्चित् स्फुरण हुआ भी, ऐश्वर्य-भावोंकी बूँदें बाहर आयीं भी तो उनके टिकनेका स्थान नहीं; क्योंकि देखते-देखते ही, श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर उनकी दृष्टि पड़ते ही एक नवीन झोंका आया, विशुद्ध सख्यकी एक अतिशय प्रबल लहर बाहर आयी और उसने इन विजातीय ऐश्वर्यके भावोंको न जाने कहाँ-से-कहाँ—अत्यन्त दूर फेंक दिया। इसीलिये गोपशिशुओंने तो सचमुच यही समझा कि उनके कन्हैया भैया विषकी

अद्भुत महौषधि जानते हैं, उसीके प्रभावसे अघासुरका सिर फट गया। इस भावनाने उनके रोम-रोमको प्रफुल्लित कर दिया। वे सब आनन्दमें भरकर, एक-दूसरेको हृदयसे लगाकर कहने लगे—

भो भो भ्रातरस्तदैव दैवज्ञा इव वयमवोचाम
वकमिवामुमयं निहनिष्यतीति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे भैयाओ! हमलोगोंने तो ज्योतिषीकी भाँति तभी—पहलेसे ही कह दिया था कि यह इसे वकासुरकी तरह मार डालेगा।'

अस्तु, अब यहाँसे आगे कलिन्दनन्दिनीका निर्मल प्रवाह दीखने लग जाता है। श्रीकृष्णचन्द्र गोवत्स एवं सखामण्डलीको साथ लिये पुलिनकी सीमामें आ पहुँचे हैं। आते ही एक अप्रतिम उत्साहकी लहर उनके नित्य-नवसुन्दर मुखचन्द्रको अलंकृत करने लगती है और वे सखाओंके सामने अपने अग्रिम कार्यक्रमका प्रस्ताव करने चलते हैं —

सरित्पुलिनमानीय भगवानिदमब्रवीत्।

(श्रीमद्भा० १०। १३। ४)

संग सखा बच्छा लिऐं, पहुँचे जमुना कूल।
देखत बन-सोभा घनी, खेलत तन मन फूल॥

यमुनापुलिनकी शोभाकी ओर अपने सखाओंका ध्यान आकर्षित करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र कहने लग जाते हैं—'अहा! भैयाओ! देखो तो सही, यह पुलिन कितना मनोरम है! हमलोगोंकी स्वच्छन्द क्रीड़ाके उपयुक्त सभी वस्तुएँ यहाँ प्रस्तुत हैं। अरे, देखो, मध्यमें तो कर्पूरधवल बालुका-राशिका आस्तरण बिछ रहा है और उधर स्थान-स्थानपर वर्षावारिसे परिपूर्ण जलाशय अपने वक्षःस्थलको प्रस्फुटित पद्मसमूहोंसे आच्छादित कर हँस-से रहे हैं। इतना ही नहीं—देखो, देखो, आनन्दपूरित हृदयसे ये सरोवर मानो संगीतका स्वर अलाप रहे हों। सरोज-कुसुमोंके परिमलसे सुवासित पवनका स्पर्श पाकर राशि-राशि भ्रमरावलियाँ आकृष्ट हो गयी हैं, गुंजार कर रही हैं। यह अलिगुञ्जन, यह झंकृति सरोवरकी स्वरलहरी ही तो है! जलाशयके सुवाससे खिंचकर आये हुए अगणित विहंगमोंका दल कितने मधुर कण्ठसे कूजन कर रहा है! यह भी इनका संगीत ही तो है और फिर देखो। पुलिनको आवृत-सा किये नव-पत्र-मण्डित, फल-पुष्पभारसे अवनत हुई सघन तरुश्रेणीकी शोभा! भ्रमर-झंकारसे, पक्षियोंके सुमधुर कलरवसे प्रतिनादित यह श्रेणीबद्ध वृक्षावली मानो हमारा आह्वान कर रही है—नहीं-नहीं, अपने गृहपर आये अतिथियोंका अभिनन्दन कर रही है। भैयाओ! सचमुच सभी दृष्टियोंसे यह पुलिनभूमि अत्यन्त रमणीय है!

अहोऽतिरम्यं पुलिनं वयस्याः
स्वकेलिसम्पन्मृदुलाच्छवालुकम्।
स्फुटत्सरोगन्धहृतालिपत्रिक-
ध्वनिप्रतिध्वानलसद्द्रुमाकुलम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ५)

अहो सखा! यह पुलिन सुहावन।
अति रमनीय, सुखद अरु पावन॥
स्वच्छ बालुका, बिसद तलावा।
सुभग बारि मुनि-मनहि चोरावा॥
बिकसे कंज पुंज अलि श्रेनी।
कूजहिं द्विज सब श्रुति सुख देनी॥
ता करि बसीभूत नभगामी।
बोलत प्रतिधुनि रुचि हिय कामी॥
ता धुनि तैं तरु सोभित भारी।
सीतल छाँह पथिक-मन-हारी॥

× × ×

कालिंदी कें रही है तट छहरि छटा नीर कल्लोल ही की।
फूली-फूली महा है वह पुलिन लसै मालती चारु नीकी॥
दौरैं-दौरैं भ्रमैं औ मधुप मधु-रसी गुंज गुंजार साजैं।
सीरी-सीरी चलै है पवन परसती मा करंदै बिराजै॥
झुमड़े द्रुम अधिरे लतनि, भरे कुसुम के भार।
देखौ सिसु मम मित्र हो, यह बन सुख कौ सार॥

इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रने मध्याह्न-भोजनका प्रस्ताव रखनेकी भूमिका बनायी। राजभोगके सभी उपकरण यहाँ इस सरित्पुलिनपर एक ही साथ प्राप्त जो हो

गये। कालिन्दीका, सरोवरका निर्मल, सुरभित, शीतल जल, तीरदेशकी सघन वृक्षच्छाया, भोजनपात्रके लिये सरोवरके असंख्य पद्मपत्र, भोजनकालीन धूपसौरभके स्थानपर सुस्निग्ध पद्मगन्ध, उस समय मनोरञ्जनके लिये आयोजित संगीतके स्थानपर भ्रमरगुञ्जन, विहंग-कूजन, शीतल-मन्द-सुगन्ध पवनका व्यजन (पंखा)—इतनी सामग्री पुलिनने दे दी। और चाहिये ही क्या—

स्फुटत्सरोगन्धेति भोजनापेक्ष्यं धूपवत्सौगन्ध्यम् × × × तथा गीतमिव भ्रमरादिध्वनिविलासो भोजनपात्रं च पद्मपत्रादिकं सुवासितशीतलाच्छजलं च शरत्तापनिवारणाय घनवृक्षच्छाया चेति सुखभोजनसामग्री दर्शिता × × ×।

(श्रीवैष्णवतोषिणी)

अस्तु, व्रजेन्द्रनन्दनने अब बात स्पष्ट कर देनी चाही। प्रत्येक गोपशिशुके नेत्रोंसे उनके नेत्र जा मिले और फिर मधुस्रावी कण्ठसे वे बोले—'भैयाओ! अब तो हमलोग यहीं भोजन कर लें; क्योंकि भोजनवेला अतीतप्राय हो चुकी है। इतना अधिक विलम्ब हो चुका है। साथ ही क्षुधासे भी हमलोग पीड़ित हो रहे हैं। यहाँ सब प्रकारकी सुविधा है। सामने रही यमुनाकी जलधारा। यहाँ तो गोवत्स जलपान कर लें और फिर देखो, अत्यन्त समीपमें ही है यह हरिततृणपूर्ण सुविस्तृत भूमि। अहा, सुकोमल श्यामल तृणोंकी लहर-सी उठ रही है। जल पिलाकर वहीं गोवत्सोंको छोड़ दो। वे इस तृणभूमिपर धीरे-धीरे विचरण करें—

अत्र भोक्तव्यमस्माभिर्दिंद्या रूढं क्षुधार्दिताः।
वत्साः समीपेऽपः पीत्वा चरन्तु शनकैस्तृणम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ६)

अहो सखा! सब मिलि एहि ठामा।
भोजन करहु बैठि सुखधामा॥
भइ बड़ि बेर, काल चलि गएऊ।
छुधा-तृषा बाधित सब भएऊ॥
बछरन प्याइ नीर सुठि नीकौ।
निकट चरहिं तृन भावत जीकौ॥

श्रीकृष्णचन्द्रकी इच्छा ही गोपशिशुओंकी इच्छा जो ठहरी। और फिर आज तो अतिकाल हो चुका है। अतः प्रस्तावका परम उल्लासपूर्ण समर्थन हो, इसमें तो कहना ही क्या है! बस, दूसरे ही क्षण 'हीओ-हीओ' नादसे पुलिन मुखरित होने लगता है। असंख्य गोवत्स यमुनाप्रवाहके समीप हाँक दिये जाते हैं तथा जिस समय पङ्क्तिबद्ध होकर वे जल पीने लगते हैं, उस समयकी शोभा देखने ही योग्य है। मानो मन्दाकिनी रविनन्दिनीसे संगमित हो गयी हों। जो हो, बालक उन्हें जलसे पूर्णतया आप्यायितकर पूर्वनिर्दिष्ट स्थानपर, उसी हरित तृणभूमिपर ले जाते हैं; वहाँ उनकी रक्षाकी ऐसी व्यवस्था कर देते हैं कि वे भाग न सकें। जब इतना हो जाता है तब सभी शिशु अपने-अपने छीकोंको खोलते हैं तथा अतिशय आनन्दमें भरकर श्रीकृष्णचन्द्रके साथ भोजन करने चलते हैं—

तथेति पाययित्वार्भा वत्सानारुध्य शाद्वले।
मुक्त्वा शिक्यानि बुभुजुः समं भगवता मुदा॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ७)

सखन प्याइ बछरन कौं नीरा।
हरित सुभग तृन जमुना-तीरा॥
तहाँ चरन बछरा जब लागे।
तब सब मिलि भोजन अनुरागे॥

मानो पद्मका एक प्रफुल्ल बीजकोश हो, इस बीजकोशके चारों ओर मण्डलाकार श्रेणीबद्ध पद्मदल हों—इस प्रकार अपने सखा श्रीकृष्णचन्द्रको वेष्टितकर गोपशिशुओंने आसन ग्रहण किया। पहले श्रीदाम, सुबल आदि शिशुओंकी एक पङ्क्ति अपने सखाको घेरकर बैठ जाती है। इसके अनन्तर अपेक्षाकृत बृहत् दूसरी पङ्क्ति पहलीको मण्डलाकारमें ही घेर लेती है। तीसरी पङ्क्ति दूसरीकी अपेक्षा भी बृहत्तर होती है और पूर्वकी भाँति वह दूसरीको आवृत कर लेती है। चौथी तीसरे दलसे बड़ी, पाँचवीं चौथेसे अधिक बृहत्—इस क्रमसे असंख्य गोपशिशुओंने असंख्य मण्डलाकार पङ्क्तियोंकी रचना कर श्रीकृष्णचन्द्रको वेष्टित करते हुए अपने-

अपने आसन लगाये। शिशुओंकी वेश-भूषा भी संयोगसे ऐसी है मानो सचमुच विभिन्न वर्णकी पद्मदलराशि ही एकत्र हो गयी हो। व्रजेन्द्रनन्दनको आवृत करनेवाली प्रथम पङ्क्ति पीतवर्णकी हो गयी। द्वितीयकी आभा रक्तवर्ण-सी हुई। तृतीयने श्यामवर्णकी शोभा धारण की तथा चतुर्थ पङ्क्तिसे हरिद्वर्णकी छटा प्रसरित हो उठी। इस क्रमसे असंख्य पङ्क्तियोंका एक निराला सौन्दर्य वाग्वादिनीके लिये भी अवर्णनीय बन गया। प्रत्येक शिशुका मुख भी अपने प्राणोंके प्राण कन्हैया भैयाकी ओर ही है तथा प्राकृत दृष्टिसे महान् आश्चर्य—किंतु अनन्तैश्वर्यनिकेतन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चरणोंमें प्रणत, उनकी नखचन्द्रिकासे आलोकित नेत्रोंके लिये सर्वथा सम्भव—घटना यह है कि व्रजरञ्जनन्दनका मुखपद्म भी प्रत्येक शिशुकी ओर ही है। प्रत्येकको ही यह अभ्रान्त अनुभूति है—'मेरा कन्हैया भैया सर्वथा मेरी ओर ही दृष्टि किये, स्नेह-सौहार्दकी अजस्र धारा बहाते हुए अवस्थित है।' ऐसी अवस्थामें उनके आनन्दकी थाह कौन पाये? बस, इतना ही कहना सम्भव है—उत्फुल्लनेत्र हुए वे असंख्य गोपशिशु अपने कोटिप्राणप्रतिम सखाको निहार रहे हैं एवं उनके सखाकी दृष्टि भी एकमात्र उन्हींकी ओर केन्द्रित हो रही है। जो हो, इस प्रकार असंख्य सखाओंसे परिवेष्टित होकर भोजनके लिये आसन ग्रहण किये हुए श्रीकृष्णचन्द्र यमुनापुलिनके उस वनमें विराजित हो रहे हैं—

कृष्णस्य विष्वक् पुरुराजिमण्डली-
रभ्यानना: फुल्लदृशो व्रजार्भका:।
सहोपविष्टा विपिने विरेजु-
श्छदा यथाम्भोरुहकर्णिकाया:॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ८)

बैठे जो बीच कृपाल, सुंदर सखा चहुँ दिसि भाजहीं।
जिमि कमल मध्य सुकर्निका सुभ पत्र चहुँ दिसि छाजहीं॥
× × ×
मंडल करि बैठे ब्रजबाल, मध्य बने तहँ मोहनलाल।
सोहत सब तैं सन्मुख ऐसें, कमलके बीच करनिका जैसें॥
चहुँ दिसि बाल-मंडली बैसी, नखत बिसाखा होति है जैसी।
तिनि मधि स्याम सुभग सोहत यों, राकानिसि राकेस लसै ज्यों॥
× × ×
जनु चहुँ दिसि मुक्तामनि रचीं, मधि गुपाल मरकत मनि खचीं।
राजिता कर मुद्रिका दिखाई, यह ताकौं जगमगत जराई॥

आज सखाओंके भोजनपात्र भी निराले ही हैं। कतिपय शिशुओंने सुन्दर सौरभशाली कुसुमोंके दल एकत्र किये और उन्हींको एक साथ संघटितकर अपने लिये भोजनपात्रका निर्माण किया है। कुछने पद्मपत्र आदिको लेकर अपने थालकी रचना की है। एक समुदायने वृक्षके सुकोमल पत्रोंको जोड़कर पात्र बनाये हैं। एक वर्गने पल्लवके अग्रभागमें स्थित सुकोमल अङ्कुरोंको एकत्रकर उनसे पात्र प्रस्तुत कर लिये हैं। एक दलने विभिन्न फलोंके द्वारा फलोंको ही परस्पर जोड़कर पात्रका रूप दे दिया है। कुछ शिशुओंने वृक्षोंके मूल अंशोंको लेकर उन्हें संनद्ध करते हुए भोजन-थाल बनाये हैं। कितनोंने भोजपत्र आदि वृक्षवल्कलोंको लेकर अपनी थाली बनायी है। एक शिशुसमूहने तो सुचिक्कण विविध-वर्ण प्रक्षालित प्रस्तरखण्डोंको ही उठाकर अपने सामने पात्रके रूपमें रख लिया है। इस भाँति अपनी-अपनी रुचिके अनुसार सबने अपने लिये भोजनपात्रकी योजना की है और सखा श्रीकृष्णचन्द्रके साथ भोजन करने चले हैं—

केचित् पुष्पैर्दलैः केचित् पल्लवैरङ्कुरैः फलैः।
शिग्भिस्त्वग्भिर्बृषदद्भिश्च बुभुजुः कृतभाजनाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ९)

कोउक पुष्प कोउ तासु दल, कोउक पत्र फल माहिं।
भाजन करि जेवन लगे अपर उपल चित चाहिं॥
× × ×
भाजन बिबिध गुवालन बने,
फल दल सिल बलकल अति घने।

अब भोजन-सामग्री वितरण होनेकी क्रिया आरम्भ होने चली। श्रीकृष्णचन्द्रका चिरपरिचित अमृतस्यन्दी स्वर पुनः गूँज उठा—

भो भो भो भो उज्ज्वलनिष्का निष्कासयत भक्ष्यसामग्रीमग्रीयामिति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अहो, समुज्ज्वल पदक धारण करनेवाले मेरे बन्धुगणो! उत्तमोत्तम खाद्यसामग्री छीकोंसे निकालो तो सही!'.

बस, इस सुधापूरित आदेश, नहीं-नहीं याचनाकी ही तो देर थी। सबने अपनी सर्वोत्तम वस्तुएँ अपने कन्हैया भैयाके सामने लाकर रख दीं और क्षण भी नहीं लगा, कन्हैया भैयाके छीकेकी सर्वश्रेष्ठ खाद्य-सामग्री प्रत्येक गोपसखाकी थालीमें आ गयी। प्रत्येकका प्रत्यक्ष अनुभव है—'कन्हैया भैयाके सबसे अधिक निकट मैं बैठा हूँ, बिलकुल सामने बैठा हूँ, मैंने अपने छीकेकी भेंट समर्पित की और कन्हैयाने अपना सर्वोत्तम, सबसे अधिक प्रिय पदार्थ मेरे आगे रख दिया। यह देखो! अहा, औरोंने भी वस्तुएँ लाकर कन्हैया भैयाको दीं अवश्य, पर इसने होठोंपर रखी सबसे प्रथम मेरी दी हुई वस्तु!'—इस अनिर्वचनीय सुखसिन्धुमें निमग्न होकर ही भोजन प्रारम्भ हुआ। फिर समयोचित लहरें भी उठेंगी ही। सखाओंके साथ श्रीकृष्णचन्द्रका समयोचित मधुरातिमधुर कौतुक भी चल ही पड़ा। कौन-सी वस्तु किसे अच्छी लग रही है, कौन-सा मिष्टान्न अतिशय सुस्वादु है, कौन-सा अच्छा नहीं लगा—इसे अपनी मुखभङ्गिमासे, नेत्र एवं होठोंके संचालनसे एक-दूसरेको बता देनेका खेल सर्वप्रथम हुआ। इसके अनन्तर आज जिसे जो वस्तु सबसे अधिक प्रिय लग रही है, उसे श्रीकृष्णचन्द्रके मुखमें तथा जो मोदक, पिष्टक, व्यञ्जन, दाल आदि वस्तुएँ नीलसुन्दरको रुचिकर—स्वादिष्ट लगीं, उन्हें सखाओंके होठोंपर रख देनेकी दूसरी क्रीड़ा हुई और फिर विनोद आरम्भ हो गया। किसीने मिष्टान्नके भीतर निम्बपत्रोंका चूर्ण भरकर उसे ऊपरसे ढककर अन्यके मुखमें रख दिया। किसीने अतिशय सुस्वादु व्यञ्जनमें बहुत अधिक नमक मिश्रितकर, उसकी अतिशय प्रशंसा करते हुए उसे एकके मुखमें डाल दिया और जब निम्बकी तिक्तता से, अत्यधिक लवणके खारेपनसे वे शिशु मुख बिझुकाने लगे, तब सारी मण्डली आनन्दविभोर होकर हँसने लग गयी। श्रीकृष्णचन्द्रकी ओरसे भी एक-से-एक सुन्दर कौशलपूर्ण विनोद हुए तथा उनके प्रिय सखाओंने भी ठीक उतने ही सुन्दर, उसी जातिके विनोदपूर्ण प्रत्युत्तर दे डाले। शिशुसुलभ, अतिशय विशुद्ध, पर अत्यन्त चातुर्यपूर्ण ऐसे-ऐसे आदर्श विनोद हुए कि श्रीकृष्णचन्द्र एवं गोपसखा परस्पर हँसते-हँसाते लोट-पोट होने लग गये। कुछ क्षणके लिये विनोदका विराम हुआ; श्रीकृष्णचन्द्रने, सखाओंने अपने मुखमें एक-दो ग्रास रखे। इतनेमें किसी एक शिशुने ऐसी नवीन चेष्टा कर दी कि हँसीका प्रवाह फूट पड़ा; समस्त पुलिन उस उन्मुक्त हँसीसे निनादित होने लग गया। इस प्रकार परस्पर हँसते-हँसाते, सुखपूरमें डूबे हुए वे शिशु भोजन करते रहे। उनके सुखकी सीमा नहीं। भला, स्वयं जगन्नियन्ता जगदीश्वर जिनके साथ सखारूपमें नित्य वर्तमान हैं, उनके सुखकी इयत्ता हो ही कैसे सकती है।

सर्वे मिथो दर्शयन्तः स्वस्वभोज्यरुचिं पृथक्।
हसन्तो हासयन्तश्चाभ्यवजह्रुः सहेश्वराः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। १०)

भोजन करती बार, निज-निज ब्यंजन प्रेम जुत।
दरसावत रस-सार, हँसत परसपर नाथ मिलि॥
काहुहि टेरि कहत हरि प्यारे।
सखा! साक आनहु निज सारे॥
दियौ आनि हरि कर सो भाजन।
ग्रास एक पारा बिनु काजन॥
अहो अहो यह अतिसै खारौ।
हँसे आपु कहि दालि बिगारौ॥
प्रभु के हँसत हँसे बहु बारा।
अहो अहो यह दालि बिगारा॥
एहि बिधि अमित हास्य-रस-लीला।
करत भए प्रभु सब गुन सीला॥

× × ×

भोज्य भक्ष्य तहँ लेहु कहि, पेय पियत सिसु साथ।
पाहन पन्नन पर धरैं, जैवत त्रिभुवन नाथ॥

आकाशपथ विमानोंसे पूर्ण हो गया है। इस अभूतपूर्व अप्रतिम-सुन्दर झाँकीके दर्शन फिर हों न हों। देवसमाज अपने स्वाभाविक अपलक नेत्रोंसे ही दर्शन कर रहा है, पर तृप्ति कहाँ। क्षण-क्षणमें प्राणोंकी उत्कण्ठा बढ़ती जा रही है। सर्वयज्ञभोक्ताका यह भोजन—ऐसा वात्सल्यरससम्पुटित स्वच्छन्द भोजनकालीन विहार बार-बार देखनेको मिलता है? साङ्गोपाङ्ग वैदिक विधिविधानोंसे समर्पित किये यज्ञभागका भी जो कभी भोग नहीं लगाता, ऋषियोंको केवल अलक्षित रूपसे उसकी स्वीकृतिमात्रका भान हो पाता है, वे ही सर्वेश्वर महामहेश्वर यज्ञपुरुष आज प्रत्यक्ष सर्वथा प्राकृत शिशुकी भाँति गोपबालकोंके बीच बैठकर, उनकी पङ्क्तिका ही एक सर्वसाधारण सदस्य बनकर भोजन कर रहे हैं। असंख्य गोपबालक उन्हें वेष्टित किये बैठे हैं, उन सुहृद्वर्गको—प्राणप्रिय बन्धुओंको अपने असाधारण परिहासवाक्योंसे हँसाते हुए वे उनका मनोरञ्जन कर रहे हैं। इतना ही नहीं, उन आभीर सखाओंके भोजनपात्रसे द्रव्य उठाकर अपने मुखमें रख लेते हैं, वस्तुके स्वादकी प्रशंसा एवं निन्दा भी करते जा रहे हैं—यहाँतक कि सुस्वादके अभावमें वह वस्तु उसी सखाके शरीरपर उँड़ेलकर हँसने लग जाते हैं; इतने बाल्यावेशसे वे अभिभूत हो रहे हैं! महामरकत-श्यामल अङ्गोंकी भङ्गिमा भी इस समय अद्भुत ही बन गयी है। उदर एवं परिधेय वस्त्रके मध्यस्थलमें वेणु धारण किये हुए हैं—कछोटीमें वेणुको खोंस लिया है। वाम कक्षमें शृङ्ग एवं वेत्र दबा लिये हैं। वाम करतलमें दधिमिश्रित घृतसिक्त अन्नका एक बृहत् ग्रास शोभित हो रहा है। अङ्गुलि-संधियोंमें बिल्व, जम्बीर, आर्द्रक (अदरख), करील आदि फलोंके टुकड़े दबाये हुए हैं। ऐसे अद्भुत साजसे सज्जित हो रहे हैं। उन महामहिमकी ऐसी विचित्र वेशभूषा! और फिर योगीन्द्र-मुनीन्द्र-मनोहारिणी ऐसी सुन्दरातिसुन्दर बालकेलि!—इससे अधिक आश्चर्यकी बात और क्या होगी? ऊपर स्पन्दहीन होकर देववृन्द देखते रह जाते हैं, नीचे व्रजेन्द्रकुलचन्द्रकी पुलिन-भोजनलीला चलती ही रहती है—

बिभ्रद् वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु।
तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन् नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेलिः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ११)

अखिल जग्य भोगी श्रुति गावै। पुनि परिपूरन नाम बतावै॥
सो हरि बाल संग इमि आजू। जेंवत सुखप्रद संत-निवाजू॥
देखि स्वर्गबासी कह बानी। अहो कहा हरि कौतुक ठानी॥
उदर पीत पट सुषमा-रासी। ताहि मध्य धरि बेनु बिलासी॥
दोउ भुज-मूल सृंग धरि बेंतू। जेंवत जेवन कृपा-निकेतू॥
बाम पानि दधि-ओदन लीन्हें। बेर आदि फल अँगुरिन दीन्हें॥
एहि बिधि भोजन करत प्रभु मध्य बाल भूपाल।
सब कहुँ सनमुख सुमुख सुठि सुहृद संत गोपाल॥

सुरसमुदाय भ्रान्त होने लगता है—

भोजन करत कुँवर साँवरे, छबि लिखि अमर भए बावरे।

ब्रह्माजीके द्वारा पहले गोवत्सोंका अपहरण और श्रीकृष्णके उन्हें ढूँढ़ने निकलनेपर गोपबालकोंका भी अपसारण; श्रीकृष्णकी उन्हें ढूँढ़ निकालनेमें असमर्थता तथा अन्तमें सर्वज्ञताशक्तिद्वारा सब कुछ जान लेना

'हैं! गोवत्स किधर गये?'—एक चञ्चल शिशुने सबका ध्यान आकर्षित किया। फिर तो हाथके ग्रास हाथमें ही रह गये। सबकी दृष्टि उस ओर केन्द्रित हो गयी, जिधर अभी-अभी कुछ क्षण पूर्व अदूरवर्ती तृणश्यामल भूभागपर राशि-राशि गोवत्स स्वच्छन्द विचरण कर रहे थे। पर इस समय वहाँ एक भी न था; सब-के-सब न जाने कहाँ चले गये। गोपशिशुओंको इस बातका सहसा अनुमान ही न हो सका कि जिस समय पुलिन-भोजनका उद्दाम कौतुक चल रहा था, वे बालक आनन्द-पयस्विनीमें डूबते-उतराते सुध-बुध खोये-से हो चुके थे, उनकी अन्य स्मृतियाँ विलुप्तप्राय हो चुकी थीं, उनके मन-प्राणोंमें केवल अपने प्राणसखा श्रीकृष्णचन्द्रका, उनके लीलाविहारका अस्तित्वमात्र ही बच रहा था—उसी समय गोवत्सराशि भी क्रमशः आगे बढ़ती जा रही थी, हरित तृणसंकुल भूमिका एक-से-एक सुन्दर अंश सामने दीखता था और गोवत्स उससे प्रलोभित हुए उस दिशामें ही अग्रसर हो रहे थे; तथा इस प्रकार धीरे-धीरे ही वे सुदूर वनमें जा पहुँचे थे, इतनी दूर कि अपने पालकवर्गकी दृष्टिसे सर्वथा ओझल हो चुके थे—

भारतैवं वत्सपेषु भुञ्जानेष्वच्युतात्मसु।
वत्सास्त्वन्तर्वने दूरं विविशुस्तृणलोभिताः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। १२)

अस्तु, कहाँ तो वनस्थली शिशुओंके आनन्द-कोलाहलसे मुखरित हो रही थी और अब वहीं सहसा एक गम्भीर नीरवता छा गयी। अपने गोवत्सोंको न देखकर एक बार तो सभी बालक अतिशय संत्रस्त हो उठे—

बत्स चरत बन माहिं, तृन-लोभित चलि दूरि गे।
सखन लखे जब नाहिं, भय तें अति चकित भए॥

किंतु कतिपय वयस्क बालकोंने तुरंत अपनेको सँभाला। उनके ध्यानमें वस्तुस्थिति आने लग गयी और वे बोले—

कृष्ण! सखे! सखेदाः स्म। नैकोऽपि दृश्यते वत्सः। मन्ये नवतृणाङ्कुरलालसालसाभावादतिदूरं गतास्तदधुना तदनुसंधानाय संधानायकैर्भवितव्यमस्माभिरिति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे भैया कृष्ण! देख, हम सभी चिन्तित हो रहे हैं, एक भी गोवत्स नहीं दीख पड़ता। प्रतीत होता है—नवीन तृणाङ्कुरोंकी लालसासे वे सब अभिभूत हो गये हैं। इसीलिये तनिक भी आलस्य न कर—कहीं भी रुके बिना ही वे सब बहुत दूर चले गये हैं। अतएव अब हमलोगोंको भी उनका अनुसंधान पानेके लिये एवं फिर उन्हें हाँककर वनकी सीमापर हम ले आयें, इस उद्देश्यसे उधर ही चलना चाहिये।'

यह बात पूरी भी न हो पायी कि एक छोटे-से गोपशिशुने अपनी विशेषज्ञताकी छाप-सी डालते हुए कहना आरम्भ कर दिया—ऊँ हूँ, तुम सब कहते क्या हो? कन्हैया भैयाको छोड़कर आजतक तो एक भी गोवत्स दूर नहीं गया था? यहाँ तो बात ही दूसरी दीखती है। उस विशालकाय अजगरको भूल गये क्या? देखो, कनूँने उसे मार तो दिया; पर हमलोग उसे यों ही छोड़कर चले आये, उसे तो वनकी लकड़ी डालकर जला देना था। नहीं तो, ये सर्प वायु पीकर पुनः जीवित हो उठते हैं। क्या पता, वह पुनः जी उठा हो तो? उसीने गोवत्सोंको.....।' कहते-कहते शिशुकी वाणी रुद्ध हो गयी।

'कोई अन्य असुर भी तो आ सकता है।'—एक तीसरे दलने भी अपना निर्णय दे डाला। सारांश यह कि गोपबालक भिन्न-भिन्न प्रकारसे संकल्प-विकल्प करते हुए अपनी बात सामने रखने लगे। पर सभी

सहमत हैं कि चलकर गोवत्सोंको ढूँढ़ा जाय। साथ ही सबके मुखपर भयकी अतिशय स्पष्ट रेखा अङ्कित हो चुकी है। हाँ, केवलमात्र उनके प्राणसखा श्रीकृष्णचन्द्र ऐसे हैं, जिनके मुखपर कोई विकृति नहीं। भयोद्विग्नताका लेशमात्र चिह्न भी नहीं। उनके अरुणिम अधरोंपर इस समय भी वही सुन्दर स्मित है, नेत्रसरोजोंमें वैसी ही उत्फुल्लता है। अपने सखाओंको भयभीत देखकर वे अपने स्थानपर खड़े अवश्य हो गये हैं। बस, इसके अतिरिक्त और कोई परिवर्तन नहीं है।

किंतु अब श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्र भी किञ्चित् चञ्चल होने लगते हैं—किसी भयसे नहीं, अपितु अपने सखाओंको भयभीत देखकर उनका भय हर लेनेके उद्देश्यसे। और फिर गूँज उठता है समस्त जगत्के अभयदाताका वह अमृतस्रावी स्वर भी—

तान् दृष्ट्वा भयसंत्रस्तानूचे कृष्णोऽस्य भीभयम्।

(श्रीमद्भा० १०। १३। १३)

अपने सखाओंके मन, प्राण, इन्द्रियोंको शीतल करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र कहने लग जाते हैं—

मित्राण्याशान्मा विरमतेहानेष्ये वत्सकानहम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। १३)

'अरे भैयाओ! तुम सब भोजन करना मत छोड़ो। देखो, गोवत्सोंको तो मैं अकेला ही ढूँढ़कर यहाँ ले आता हूँ।'

अहो मित्र, तुम भोजन करौ, अपने मन तनिकौ जिनि डरौ।
बछरन हम लै ऐहैं अबै; बैठे रहौ, लहौ सुख सबै॥

पर कहीं यह बात भी माननेकी हो सकती है? नीलसुन्दर उन्हें छोड़कर चले जायँ और गोपशिशु भोजन करते रहें, यह भी कभी सम्भव है? प्राणोंसे संयुक्त रहनेपर ही तो इन्द्रियोंमें विषयग्रहणकी सामर्थ्य है! प्राणशून्य इन्द्रियोंने कभी किसी रसकी अनुभूति की है क्या?—श्रीकृष्णचन्द्रका यह प्रस्ताव एक स्वरसे अस्वीकृत हो जाता है। भोजनकी बात दूर, कन्हैया भैया एकाकी गोवत्सोंको ढूँढ़ने जाय—यह भी किसे स्वीकार है? श्रीदामने पीताम्बरका छोर पकड़ लिया, सुबलने श्रीकृष्णचन्द्रके दोनों कंधोंपर अपने हाथ रख दिये; —असंख्य सखाओंका प्रतिनिधित्व दोनोंके द्वारा सम्पन्न हो गया। सबके मनोभावकी सूचना इन दोनोंने दे दी। अब परिस्थिति विचित्र-सी है। इधर तो श्रीकृष्णचन्द्र अपने सखाओंके परम सुखमय पुलिनभोजनमें व्याघात आया देखकर व्यथित हो रहे हैं, चाहते हैं—भोजनका क्रम चलता रहे और वे गोवत्सोंको ढूँढ़ लायें। उधर शिशुओंका प्रेमिल आग्रह है कि वे न जायँ। नीलसुन्दरने उन्हें बहुत समझाया, पर कौन सुनता है। आखिर नन्दनन्दनने अन्तिम युक्तिका आश्रय लिया। वे बोले 'देखो भैयाओ! पता तो है नहीं कि गोवत्स कहाँ किस दिशामें गये। और आगे सघन वन है। मान लो, हमलोग कहीं उन्हें ढूँढ़ने चलें, भिन्न-भिन्न दिशामें उनकी खोज करें और इस प्रयासमें हमलोगोंमेंसे एक भी कोई खो जाय, पथ भूल जाय तो कितना अनर्थ हो जायगा, कितनी कठिनाई होगी! बिना उसे ढूँढ़े तो हमलोग घर जा नहीं सकेंगे? इसीलिये मैं अकेला जाना चाहता हूँ। तुम्हारी दृष्टिसे ओझल थोड़े होऊँगा। बस, वहाँ उस ऊँचे तमालके पास जाकर पुकार लगाऊँगा। तुम सब यहाँ बैठे-बैठे मुझे देखते रहना। प्रतिदिन ही तो तुम देखते हो। मेरे बुलाते ही सभी गोवत्स कूदते हुए मेरे पास आ जाते हैं, मेरे लिये तो उन्हें बुला लेना बड़ा सहज है। बस, आधे क्षणकी तो बात है, मैं जाकर उन्हें ले आऊँ और फिर हम सब आनन्दपूर्वक भोजन करेंगे।'

यह कहते समय श्रीकृष्णचन्द्रके बिम्बविडम्बि अधरोंपर एक अद्भुत हासकी क्षीण, पर अतिशय निर्मल रेखा-सी अङ्कित हो जाती है एवं शिशु इस बार निरुत्तर हो जाते हैं। सरलमति गोपबालक कैसे जानें कि यह उनके कन्हैया भैयाकी स्वाभाविक मुसकान नहीं है, यह तो अचिन्त्यलीलामहाशक्तिकी अग्रिम योजनाको संघटित करनेके लिये व्यक्त हुई अघटनघटनापटीयसी योगमायाके अञ्चलकी चमक है। नीलसुन्दरके होठोंके अन्तरालसे वे एक झीनी चादरका आवरण लगा रही हैं, श्रीकृष्णचन्द्रके प्राणसखाओंको मानो आवश्यक वस्त्र धारण कराकर ढँक दे रही हैं; क्योंकि जहाँ गोवत्स गये हैं, वहीं कुछ क्षणोंमें ही शिशुओंको भी जाना जो है; तथा आवृत हुए बिना विश्वमें किसीकी सामर्थ्य नहीं कि

इन्हें स्थानान्तरित कर सके। साथ ही स्वेच्छासे ये नीलसुन्दरको छोड़नेके लिये प्रस्तुत हो जायँ, यह भी सम्भव नहीं। इसीलिये योगमायाका हस्तक्षेप आवश्यक हो गया। वे आयीं ही और उनके अञ्चलके चाकचिक्यसे शिशु सर्वथा सचैतन्य रहनेपर भी वास्तवमें मुग्ध भी हुए ही। उनके पास कन्हैया भैयाकी उपर्युक्त बातोंके लिये कोई उत्तर नहीं बचा। जो हो, श्रीकृष्णचन्द्रका वह प्रस्ताव स्वीकृत हो गया तथा वे ज्यों-के-त्यों—वैसे ही दधिमिश्रित अन्नका ग्रास हाथमें धारण किये हुए गोवत्सोंका अन्वेषण करने चल पड़े!

हरित तृणोंका पुञ्ज लह-लह कर रहा है। उनपर चरण रखते हुए श्रीकृष्णचन्द्र उस तमालमूलके समीप जा पहुँचे। उन्होंने खड़े होकर चारों ओर दृष्टि दौड़ायी, पर किसी ओर भी गोवत्सोंका कोई अनुसंधान प्राप्त नहीं हुआ। उच्चकण्ठसे वे गोवत्सोंका नाम ले-लेकर पुकारने लगे, फिर भी वनस्थलीकी ओरसे एक भी गोवत्स आज उनकी ओर दौड़कर नहीं आया। वे सोचने लगे—'कदाचित् पार्श्ववर्ती वनके सघन अंशमें वे सब प्रविष्ट हो गये हों, मेरी पुकार उनतक पहुँच न पा रही हो!' इस आशङ्कासे वे तृणक्षेत्रको छोड़कर वनमें प्रवेश कर गये। पर वहाँ वनके प्रत्येक अंशमें जाकर आह्वान करनेपर भी उन्हें कोई संकेत न मिला। सघन कुञ्जोंमें, अत्यन्त दुर्गम वनप्रदेशोंमें—संकट-स्थानोंमें भी वे हो आये; पर कहीं एक भी गोवत्सका कोई चिह्न भी न दीखा। कहीं गिरिराजकी हरितिमासे आकृष्ट होकर वे सब ऊपर न चढ़ गये हों, इस विचारसे श्रीकृष्णचन्द्र पर्वतकी ओर चले। शैलपरिसरका एक-एक सम्भावित स्थल भी वे देखते गये और फिर पर्वतपर जा चढ़े। वहाँ ढूँढ़ा, गोवर्द्धनकी गुहाएँ छान डालीं। किंतु वहाँ भी सब प्रयास व्यर्थ हुए। वे उन्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते न जाने कहाँ-कहाँ हो आये, पर गोवत्स तो नहीं ही मिलते। और जबतक वे मिल नहीं जाते, तबतक नीलसुन्दरको विश्राम भी कहाँ। वे तो मानो उन्हें ढूँढ़ते ही रहेंगे, ढूँढ़ ही रहे हैं। वैसे ही तो उनके कटिदेशमें वेणु संधित है, कक्षमें शृङ्ग एवं वेत्र दबे हैं, करतल दधिमिश्रित अन्नके ग्राससे परिशोभित है और वे पुनः-पुनः सघन वनमें, कुञ्जोंमें, गह्वरोंमें, शैलभागोंमें, गिरिदरियोंमें गोवत्सोंका अविराम अन्वेषण करते फिर रहे हैं—

इत्युक्त्वाद्रिदरीकुञ्जगह्वरेष्वात्मवत्सकान्।
विचिन्वन् भगवान् कृष्णः सपाणिकवलो ययौ॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। १४)

ऐसैं कहि बन-गहबर-कुंज, तम करि भरी दरी लहँ पुंज।
ढूँढ़त बच्छ बिस्व के नाथ, भोजन-कवल लिऐं ही हाथ॥

कहना कठिन है कि 'सर्वज्ञः, सर्ववित्' इन शब्दोंद्वारा श्रुतियोंसे निर्दिष्ट होनेवाले अनन्तैश्वर्यनिकेतन परब्रह्म पुरुषोत्तमके इस अभिनव बाल्यावेशके दर्शन आज किन-किनको हुए। अन्तरिक्षवासियोंने मुग्धताके अद्भुत साजसे सुसज्जित स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके इस वत्सान्वेषणकी झाँकी पायी कि नहीं, यह कौन बताये। अचिन्त्यलीलामहाशक्तिकी प्रेरणासे किनके सामने कौन-सी किस रङ्गकी यवनिका झूल रही है, किनके नेत्रोंपर किस अंशतक कैसा कौन-सा आवरण डाला गया है, श्रीकृष्णचन्द्रकी इस परम मधुर लीलाका कितना-सा अंश किनके लिये किस रूपमें अनावृत है—इन सब बातोंका यथार्थ ज्ञान किसे है? किंतु एकको तो दर्शन हुए ही हैं, हो रहे हैं, यह स्पष्ट है। वे हैं स्वयं जगत्स्रष्टा पद्मयोनि ब्रह्मा। इनके उद्देश्यसे ही तो यह लीला हो रही है। पर इनके लिये भी लीलाका समस्त अंश अनावृत है, यह कहना नहीं बनता। जो हो, पद्मयोनिके परम सौभाग्यसे उन्हें कृतार्थ करनेके लिये व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके अनन्त पारावारविहीन लीलासिन्धुमें यह एक लहर उठी है और देखना है यह कहाँ पर्यवसित होती है।

आजकी ही तो घटना है, अघासुरमोक्षके दर्शनसे स्वर्वासी आनन्दमत्त हो उठे थे। उनके शङ्ख, दुन्दुभि एवं मृदङ्गके नादसे, जय-जयकी तुमुलध्वनिसे, स्तवपाठकी मधुर स्वरलहरीसे दिग्-दिगन्त पूरित हो चुके थे। जनलोक, महर्लोक, तपोलोक प्रतिनादित हो रहे थे। सत्यलोक भी प्रतिशब्दित होने लगा था और चतुर्मुख नीचे उतर आये थे तथा सब कुछ देखकर आश्चर्यसे स्तब्ध रह गये थे। फिर उन्होंने दर्शन किये पुलिनभोजनके, उस समय होनेवाले श्रीकृष्णचन्द्रके उन्मुक्त बाल्यविहारके। स्रष्टाके आठों नेत्र शीतल हो गये। महामहेश्वरका ऐसा

बाल्यावेश उन्होंने मानो आज ही प्रथम बार देखा। पर जैसे संनिपातसे रुग्ण व्यक्तिकी तृषा शान्त नहीं होती, जल पीनेसे उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है, वैसे ही श्रीकृष्णलीलारसपानसे स्रष्टाके नेत्र शीतल होकर भी अतृप्त ही रह गये; अपितु उनके रसपानकी लालसा और भी प्रबल-प्रबलतर हो उठी। पद्मयोनिके प्राण आकुल हो उठे—'कदाचित् श्रीकृष्णचन्द्रकी कृपाका एक कण मुझे पुनः स्पर्श कर ले, उनकी लीलामाधुरीका किञ्चित् और आस्वादन भी इन नेत्रोंको प्राप्त हो जाय।' कमलयोनिकी यह इच्छा श्रीकृष्णचन्द्रके कृपामय हृदेशमें ज्यों-की-त्यों स्फुरित हो गयी। फिर वहाँसे आजतक तो किसीको भी निराशा मिली ही नहीं। 'एवमस्तु' ही वहाँ निरन्तर झंकृत होता रहता है। चतुर्मुख जान भी नहीं पाये और आदिसे अन्ततकका दृश्य नेपथ्यकी ओटमें सज गया; लीलामहाशक्तिने जगत्स्रष्टाके मनको अपने हाथपर रख लिया और फिर उसमें वे अपने इच्छानुरूप चित्रोंका सृजन करने लगीं। वास्तवमें तो वे उन आकृतियोंका अङ्कन करती जा रही थीं, पर चतुर्मुखका 'अहंकार' उन्हें 'अपनी स्फुरणा'—'अपनी योजना' के रूपमें ग्रहण कर रहा था।

अस्तु, कमलयोनि सोचने लगे, उपायका निर्द्धारण करने लगे—'कैसे लीलामाधुर्यका आस्वादन हो? अच्छा, श्रीकृष्णचन्द्र तो बाल्यविहारमें तन्मय हो रहे हैं, शिशु भी आत्मविस्मृत हो रहे हैं, ऐसे अवसरपर यदि मैं गोवत्सोंको मायामुग्ध कर स्थानान्तरित कर दूँ तो कैसा रहे? देखें, बाल्यलीलारसमत्त स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी उस समय क्या दशा होती है। ये जब उन्हें ढूँढ़ने चलेंगे उस समय निश्चय ही एक अभूतपूर्व बाल्यावेशका माधुर्य प्रकट होगा, मुग्धतास्फुटित लीलारसकी मन्दाकिनी प्रवाहित हो उठेगी, मैं उसमें अवगाहन कर कृतार्थ हो जाऊँगा! बस ठीक है, यही हो।'

उपर्युक्त निश्चयको लेकर ब्रह्मा सबसे अलक्षित रहकर ही वृन्दाकाननके उस श्यामल तृणक्षेत्रमें अवतरित हो गये और फिर चले उन गोवत्सोंको मायामुग्ध करने। उन हरित तृणपुञ्जोंके अग्रिम भूभागमें स्रष्टाने उसकी अपेक्षा भी एक अतिशय सुकोमल जातिके तृणकी रचना कर दी, फिर गोवत्सोंकी दृष्टि भी अपने प्रभावसे उस ओर ही फेर दी। तृणोंसे परिलुब्ध होकर गोवत्स वहाँ ही दौड़ चले। इतनेमें ही पुनः उससे अग्रिम वनस्थली और भी सुन्दर तृणोंसे लहलहा उठी, एक-दो ग्रास मुखमें लेते-न-लेते गोवत्सोंका ध्यान भी उस ओर चला ही गया और वे क्षणोंमें ही उस क्षेत्रका अतिक्रमण कर वहीं जा पहुँचे। पर इस हरितिमाकी इति हो तब तो? आगे और भी सुन्दर जातिके सुकोमलतम तृणका मानो अंबार लगा है। जो हो, इस प्रकार आगे-से-आगे सुन्दर सुस्वादु तृणोंका निर्माण करते हुए, उनसे गोवत्सोंको लुब्ध करते हुए विधाताने उन्हें श्रीकृष्णचन्द्रकी दृष्टिसे ओझल कर दिया। गोवत्स अपने नित्य पालककी अमृतवर्षिणी दृष्टिसे मानो वञ्चित हो गये। दूसरे ही क्षण पद्मयोनिकी दूसरी माया फैली, गोवत्स सुध-बुध खो बैठे एवं उसी दशामें व्रजमण्डलके किसी एकान्त गिरिगह्वरमें वे सब-के-सब स्थापित कर दिये गये!

ब्रह्मा इतना करके ही शान्त हो गये हों, यह बात नहीं। सफलता लोभकी जननी होती है। विधाताके अन्तस्तलमें एक और नवीन स्फुरणा जाग्रत् हुई—'इन गोपशिशुओंको भी मायामुग्धकर वहीं पहुँचा दूँ तो!' उन्होंने देख लिया है श्रीकृष्णचन्द्रको भोजन स्थगितकर गोवत्सोंका अन्वेषण करने जा रहे हैं। इतना सुन्दर अवसर फिर कब मिलेगा? अतिशय त्वरापूर्वक पद्मयोनि यमुनापुलिनपर चले आये। गोपशिशुओंने कुछ भी नहीं देखा। उनके नेत्रोंमें तो भरे हैं नीलसुन्दर, उनकी दृष्टि केन्द्रित है अपने कन्हैया भैयाकी ओर, उन्हें केवलमात्र दीख रहा है—'वह रहा कन्हैया, उस तमालकी छायामें।' वे भला, चतुर्मुखको क्यों देखने लगे। हाँ, चतुर्मुखने उनके दर्शन अत्यन्त निकटसे अवश्य पा लिये। जो हो, विधिकी दृष्टि पड़ते ही शिशु मानो अपनी उस भावसमाधिमें ही लीन हो गये, उनकी बाह्यचेतना विलुप्त हो गयी; तथा पद्मयोनिने इन्हें भी वहीं पहुँचा दिया, जहाँ असंख्य गोवत्स अचेतन हुए पड़े हैं।

इस प्रकार गोवत्सोंके, गोपशिशुओंको स्थानान्तरितकर—अपनी मायाका प्रभाव देखकर पद्मयोनि फूले नहीं समाये। बस, यहीं चतुर्वेदवक्ता विरञ्चि पथ भूल गये। कदाचित् वे अपने अमित ज्ञानके आलोकमें वस्तुस्थितिकी समीक्षा करनेका प्रयास करते तो उन्हें स्पष्ट दीख जाता—जिन गोवत्सोंका संलालन श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं अपने करकमलोंसे करते हैं, सुकोमल तृण-पत्रोंका आहरण कर अपने श्रीहस्तसे जिन्हें भोजन कराते हैं, क्रोडमें धारणकर प्यारसे जिनका मुखचुम्बन करते हैं, उन गोवत्सोंको तथा श्रीकृष्णचन्द्रके प्राणसखा गोपशिशुओंको मायामुग्ध करनेकी सामर्थ्य किसीमें भी नहीं। उन जगत्स्रष्टा विरञ्चिकी माया अप्राकृत साम्राज्यके किसी भी प्राणीको मोहित करे—यह तो दूर, वह उनके समक्ष भी नहीं जा सकती। यह तो व्रजेन्द्रनन्दनकी ही अचिन्त्यलीला-महाशक्तिकी प्रेरणा है, उनकी ही योगमाया-शक्तिकी छाया पड़ी है और गोवत्स एवं गोपशिशु मोहित हुए हैं। विरञ्चिकी माया तो उन्हें स्पर्श ही नहीं कर सकती; किंतु स्रष्टाको इस समय अवकाश कहाँ, जो इस ओर दृष्टि डाल सकें। वे तो अपनी धुनमें हैं और उन्हें जो करना था, वे कर चुके। अब तो अग्रिम कार्यक्रमकी बात वे सोच रहे हैं—'यहाँ ठहरूँ कि चला जाऊँ? कदाचित् श्रीकृष्णचन्द्र इन्हें ढूँढ़ते हुए आ पहुँचे और मुझे देख लें! फिर तो लीलामाधुर्यका प्रकाश नहीं ही होगा! मेरी मनोरथपूर्तिकी सम्भावना ही समाप्त हो जायगी!' इस चिन्तामें वे निमग्न हैं। जो हो, पद्मयोनिको हट जाना ही श्रेयस्कर प्रतीत हुआ और वे तत्क्षण अन्तर्हित हो गये; नहीं-नहीं, श्रीकृष्णचन्द्रकी एक परम मनोहर रहस्यमयी लीलाका मङ्गलाचरण करके मानो नेपथ्यमें प्रविष्ट हो गये, अन्य-वेष-भूषासे सज्जित होकर पुनः मञ्चपर अभिनयके लिये आनेके उद्देश्यसे—

अम्भोजन्मजनिस्तदन्तरगतो मायार्भकस्येशितु-
र्द्रष्टुं मञ्जु महित्वमन्यदपि तद्वत्सान्वितो वत्सपान्।
नीत्वान्यत्र कुरूद्वहान्तरदधात्खेऽवस्थितो यः पुरा
दृष्ट्वाथासुरमोक्षणं प्रभवतः प्राप्तः परं विस्मयम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। १५)

इधर अतिशय प्रयास करनेपर भी जब बाल्यलीलाविहारीको गोवत्सोंका कोई अनुसंधान प्राप्त नहीं हुआ, तब श्रान्त-से हुए वे विचारमें पड़ गये। वे सोचने लगे—'इतने विस्तृत अरण्यमें मैं एकाकी उन्हें ढूँढ़कर पा लूँ, यह सम्भव नहीं दीखता; क्योंकि मैं एक ओर ढूँढ़ने जाता हूँ, तबतक वे सम्भवतः दूसरी ओर चले जाते हैं। अन्यथा वे मिल ही जाते। अतः सखाओंकी सहायता आवश्यक है। अब दल बनाकर हमलोग उन्हें चारों ओरसे ढूँढ़कर देखें!'—यह विचारकर हताश-से हुए श्रीकृष्णचन्द्र पुलिनकी ओर लौट पड़े। जिनके संकल्पमात्रसे अनन्त ब्रह्माण्ड बनते और विनष्ट होते हैं, विश्वके समस्त ज्ञानके जो मूल उद्गम हैं, वे अखिल ब्रह्माण्डपति महामहेश्वर सर्वज्ञशिरोमणि आज इतना अथक परिश्रम करके भी गोवत्सोंका कहीं कोई भी संकेत न पा सके, उनकी गतिविधिके सम्बन्धमें कुछ भी न जान सके तथा अब हताश होकर गोपशिशुओंकी सहायता पानेकी आशासे लौटे आ रहे हैं। बलिहारी है, नाथ! तुम्हारे इस अप्रतिम बाल्यलीलाविहारकी, बाल्यरसावेशकी!

अस्तु, अब पुलिनपर भी विश्वपतिको निराश ही होना है। वे वहाँ आ जाते हैं, जहाँ अपने सखाओंको भोजन करते हुए छोड़ गये थे; किंतु यहाँ तो अब कोई नहीं, कुछ भी नहीं। आश्चर्यमें भरकर श्रीकृष्णचन्द्रने सर्वत्र दृष्टि डाली और फिर एक-एकका नाम लेकर पुकारने लगे। श्रीदाम, सुबल, देवप्रस्थ, वरूथप, किङ्किणी, तोककृष्ण, अंशु, भद्रसेन, अर्जुन, वसन्त, उज्ज्वल, कोकिल, मधुमङ्गल, पुष्पाङ्क, भृङ्गुर, भृङ्गार, संधिक, पल्लव, मङ्गल आदि बालकोंको नीलसुन्दरने अतिशय उच्चकण्ठसे पुकारा। पर उत्तरमें वन्यतरुओंने, गिरिशृङ्गोंने प्रतिध्वनिमात्र लौटा दी। किसी भी सखाने तो कोई उत्तर दिया नहीं। और आश्चर्य यह है कि उनका, उनकी किसी वस्तुका यहाँ कोई चिह्नतक अवशिष्ट नहीं रहा है! शृङ्ग, वेणु, वेत्र, छीके—ये वस्तुएँ अमुक शिशुने अमुक स्थलपर रखी थीं; किंतु रखनेतकका चिह्न भी अब वहाँ नन्दनन्दनको प्राप्त न हो सका। भोजनके समय पद्मपत्र, पद्मदल, वृक्ष-पल्लव आदिसे नानाविध पात्रोंकी रचना शिशुओंने की थी; फल खाते समय उन सबोंने कदली, जम्बीर आदि

फलोंके छिलके यत्र-तत्र बिखेर दिये थे—वे सब वस्तुएँ तो साथ ले जानेकी थीं नहीं, वे तो यहाँ मिलनी चाहिये थीं। पर किसी भी वस्तुका एक कण भी वहाँ उपलब्ध न हो सका। पुलिनका अंश निश्चितरूपसे वही है। सरोवर, तरुश्रेणी, तपन-तनयाकी वह शुभ्र वालुकाराशि ज्यों-की-त्यों वैसी ही दीख रही है। केवलमात्र शिशु नहीं हैं और उनसे सम्बद्ध कोई भी वस्तु नहीं रही है। श्रीकृष्णचन्द्र विचार करने लगे—'सम्भव है मुझसे परिहास करनेके उद्देश्यसे शिशुओंने सभी वस्तुएँ हटा दी हों, सबके चिह्नतक पोंछ डाले हों और यहीं छिपकर मेरी प्रतीक्षा कर रहे हों?' यह विचार आते ही नीलसुन्दरने अतिशय विनम्र शब्दोंमें सखाओंको पुकार-पुकारकर प्रार्थना आरम्भ की—'अरे भैयाओ! देखो तो सही, गोवत्सोंको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते मैं कितना श्रान्त हो गया हूँ; तुम सबको दया नहीं आती? अरे विशाल! मेरे पैरोंमें पीड़ा हो रही है; तू आकर दबा दे, भैया! × × × भैया रे सुबल! देख, मेरे समस्त अङ्ग प्रस्वेदसे भर गये हैं, तू आकर अपनी चादरसे पोंछ दे! × × × अरे पयोद! चन्दन! कुन्द! देख, तुम सबोंका विनोद हो रहा है और मेरा कण्ठ सूख रहा है! बहुत ही तीव्र प्यास लग रही है; आ जा, भैया! मुझे जल पिला दे, अब विलम्ब मत कर × × × भैया रे मधुमङ्गल! पुष्पाङ्क! हंस! तू रूठ गया क्या? नहीं भैया! अब मैं कभी अपराध नहीं करूँगा। तू जैसे कहेगा, वैसे ही करूँगा। आ जा।' इस प्रकार करुणाभरी वाणीसे नन्दनन्दनने न जाने कितनोंका आह्वान किया। पर सब व्यर्थ। श्रीकृष्णचन्द्रका यह विनम्र निवेदन पुलिनके कण-कणमें गूँज उठता और पुनः नीरवता छा जाती।

'कदाचित् वे सब मुझे ही ढूँढ़नेके उद्देश्यसे वनमें चले गये हों तो क्या पता? क्योंकि मेरे लौटनेमें पर्याप्त विलम्ब जो हो चुका है।'—अब ऐसे विचार श्रीकृष्णचन्द्रके मनमें आने लगे और उन्होंने पुनः स्वयं भी वनमें जाकर उन सबको ढूँढ़नेका निश्चय किया। प्रस्वेदकण भालपर, कपोलोंपर झल-झल करने लगे हैं! झुर-झुर करता हुआ मन्द—मन्थर पवन आया है नीलसुन्दरको अपनी सेवा समर्पित करने, प्रस्वेद पोंछ देने। पर वे सेवा स्वीकार कर सकें, इतना समय उनके पास कहाँ? वे तो अब और तनिक भी विलम्ब न कर पगडंडीके पथसे वनमें ही प्रविष्ट हो गये। पहलेकी भाँति ही चारों ओर कुञ्जोंमें, गिरिपरिसरमें, गह्वरमें वे अपने सखाओंको, साथ ही गोवत्सोंको—दोनोंको ही पुकार-पुकारकर ढूँढ़ने लग गये।

ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य पुलिनेऽपि च वत्सपान्।
उभावपि वने कृष्णो विचिक्राय समन्ततः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। १६)

पर वे वहाँ हों, तब तो मिलें। श्रीकृष्णचन्द्र अरण्यकी परिक्रमा-सी करते हुए पुनः पुलिनपर ही आ पहुँचे। न तो वनमें मिला एक भी गोवत्स और न भेंट हुई किसी एक भी सखासे और अब अंशुमालीका रथ भी पश्चिम गगनमें अस्ताचलकी ओर मुड़ चुका है!

'क्या हुए मेरे गोवत्स? कहाँ गये मेरे सखा? हाय! मैं इनके बिना कैसे घर लौटूँगा?'—श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्रोंमें जल भर आया। बस, यहीं सीमा आ जाती है। त्रुटिमात्र काल व्यतीत होनेसे पूर्व ही ऐश्वर्यसिन्धु लहराने लग जाता है। सर्वज्ञता ऊपर उठ आती है, बाल्यावेशको आत्मसात् कर लेती है और फिर तो नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र अपने 'विश्ववित्' स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो ही जाते हैं। अब उनके लिये कौन-सा रहस्य अज्ञात है? जगद्विधाताकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ, उनके सम्पूर्ण मनोभाव, अतीत, अनागत-विश्वका सूक्ष्मतम स्पन्दनतक नित्य-वर्तमान बनकर उनके सामने आ जाता है। गोवत्स, गोपशिशु कहाँ हैं, कैसे, क्यों गये—यह सब कुछ अनायास अकस्मात् वे जान लेते हैं—

क्वाप्यदृष्ट्वान्तर्विपिने वत्सान् पालांश्च विश्ववित्।
सर्वं विधिकृतं कृष्णः सहसावजगाम ह॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। १७)

अखिल विश्वदृग नाथ जानि गए सब बात प्रभु।
विधिकृत यह सब गाथ, तब मन करत विचार कछु॥

× × ×

मायापति मुसक्याइ मन, बिधि-माया पहिचानि।

ब्रह्माजीकी मनोरथ-सिद्धिके लिये तथा व्रजकी समस्त माताओं तथा वात्सल्यमती गौओंको माँ यशोदाका-सा वात्सल्य-रस प्रदान करनेके लिये श्रीकृष्णका असंख्य गोपबालकों एवं गोवत्सोंके रूपमें उनकी सम्पूर्ण सामग्रीके साथ प्रकट होना तथा उन्हीं अपने स्वरूपभूत बालकों एवं बछड़ोंके साथ व्रजमें प्रवेश

पद्मयोनि तो निमित्तमात्र हुए और असंख्य व्रज-गोपियोंके, गायोंके परम सुदुर्लभ सौभाग्यका द्वार खुल गया। रुष्टाके मनोरथ तो पूर्ण होंगे ही, उन्हें व्रजेन्द्रकुलचन्द्रके अमित माधुर्यका, अनन्त वैभवका आस्वादन प्राप्त होगा ही; साथ ही व्रजपुरकी समस्त वात्सल्यवती गोपसुन्दरियोंको एवं ब्रह्माके द्वारा अपहृत राशि-राशि गोवत्सोंकी जननी उन बड़भागिनी गायोंको अपना चिरवाञ्छित पदार्थ मिल जायगा, व्रजराजमहिषी श्रीयशोदाकी भाँति ही वे गोपियाँ परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रको अपना गर्भजात शिशु मानकर, अनुभवकर अपने मनोरथ पूर्ण करेंगी तथा गायें उन्हें अपने उदरजात गोशिशुके रूपमें पाकर कृतार्थ होंगी।

श्रीकृष्णचन्द्र अग्रिम व्यवस्थाकी बात सोच रहे हैं और उनकी सर्वज्ञताशक्ति मानो अगणित गोपसुन्दरियोंके, गायोंके मनोभावका चित्र अङ्कित करके उनके समक्ष रखती जा रही है। श्रीकृष्णचन्द्रको स्मरण हो आया है—उनके आविर्भावसे लेकर अबतक किस प्रकार गोपसुन्दरियोंके मन-प्राणोंकी उत्कण्ठा बढ़ती रही है। उन्हें अपने वक्षःस्थलपर धारण करनेकी, व्रजरानीकी भाँति ही अपना स्तनदुग्ध पिलाकर कृतार्थ होनेकी कितनी तीव्र लालसा उनके अन्तस्तलमें लहराती रहती है—इसे नीलसुन्दर इस समय प्रत्यक्ष देख रहे हैं। न जाने प्रतिदिन कितनी बार असंख्य व्रजसुन्दरियाँ नन्दप्राङ्गणमें आयी हैं और नीलमणिको अपनी गोदमें देनेके लिये नन्दगेहिनीकी एवं परस्पर एक-दूसरेकी मनुहार कर चुकी हैं—

नैकु गोपालहि मोकौं दै री।
देखौं बदन-कमल नीकें करि,
ता पाछें तू कनियाँ लै री॥
अति कोमल कर-चरन-सरोरुह,
अधर-दसन-नासा सोई री।
लटकन सीस, कंठ मनि भ्राजत,
मनमथ कोटि वारनें मैं री॥
बासर-निसा बिचारति हौं, सखि!
यह सुख कबहुँ न पायौ मैं री।
निगमनि-धन, सनकादिक-सरबस
बड़े भाग्य पायौ है तैं री॥
जाकौं रूप जगत के लोचन,
कोटि चन्द्र-रवि लाजत धै री।
सूरदास बलि जाइ जसोदा,
गोपिनि-प्रान, पूतना-बैरी॥

तथा गोदमें धारणकर तृप्त होनेके बदले वे और भी उत्कण्ठित हो गयी हैं—

ललना लै-लै उछंग अधिक लोभ लागैं।
निरखति निंदति निमेष करत ओट आगैं॥

और जब उस दिनकी संध्या हो गयी है, अपने जीवनसर्वस्व नीलमणिको कण्ठसे लगाये जननी यशोदा शयनमन्दिरमें चली गयी हैं, तब गोपियाँ भी अपने घर लौटी हैं; पर लौटी हैं अपने मन-प्राणको यशोदानन्दनके पास रखकर ही। शरीरके साथ आयी है मन-प्राणकी छायामात्र, जिससे अभ्यासवश उनके गृहकार्यका निर्वाह होता रहा है। साथ ही जब-जब वे प्रकृतिस्थ हुई हैं, उस समय भी प्राणोंकी आर्तिसे सनी यह प्रार्थना ही उनके अन्तर्देशको पूर्ण किये रहती है—'हे विधाता! मेरे अनादि-संचित सुकृतोंका एक फल यदि तू दे सके

तो दे दे—कदाचित् यशोदानन्दनको मैं भी पुत्ररूपमें पाकर हृदयपर धारण कर सकूँ, व्रजेशमहिषीकी भाँति ही संलालन कर, उन्हें अपनी गोदमें लेकर रात्रिके समय सुखसमाधिमें लीन हो जाऊँ, मेरा भी नीलमणिपर एकछत्र अधिकार हो जाय!' तथा जबसे श्रीकृष्णचन्द्र वत्सचारण करने वनमें जाने लगे हैं, तबसे उन वात्सल्यवती गोपियोंकी आकुलता और भी बढ़ गयी है; क्योंकि दिनमें तो यशोदानन्दन व्रजमें रहते नहीं और रात्रिके समय रहते हैं व्रजरानीके शयनागारमें। केवल सायं-प्रातःकी कुछ घड़ियोंमें ही वे उनके मुखचन्द्रका दर्शन कर पाती हैं। इसीलिये उनके मनोरथका सिन्धु उद्वेलित हो उठा है। क्षण-क्षणमें शत-सहस्र ऊर्मियाँ उठने लगी हैं तथा गोपियाँ उनके प्रवाहमें न जाने कहाँ-से-कहाँ बहती जा रही हैं!

यह अवस्था है इनकी। किंतु मूक पशुओंकी, उन राशि-राशि गायोंकी दशा किसे ज्ञात है? श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनसे जो वात्सल्य उनमें उमड़ता है, उसे व्यक्त करनेके साधन उनके पास कहाँ? नीलसुन्दरको देखते ही एक विचित्र उल्लासपूर्ण हाम्बारव, स्तनोंसे स्वतः दुग्धक्षरण एवं अपने गोवत्सोंका भी तिरस्कार कर यशोदानन्दनके समीप दौड़े-आकर ग्रीवा प्रसारित कर देनेकी क्रिया—इतने ही उपाय हैं, जिनसे वे अपना वात्सल्य समर्पित कर पाती हैं। कदाचित् अपनी जीभ निकालकर किंचिन्मात्र वे नन्दनन्दनका उससे स्पर्श कर लेती हैं तो उस समय निश्चय ही उन्हें भी मानो यह भान हो जाता है—'ओह! व्रजराजदुलारेके सुकोमलतम श्रीअङ्गोंको क्षत लग जायगा।' और वे तुरंत अपनी जिह्वा समेट लेती हैं, श्रीकृष्णचन्द्रके अङ्गोंकी घ्राणमात्र लेकर शान्त हो जाती हैं। एक अन्तर्यामी ही जान पाते हैं कि जैसे वे अपने गोवत्सोंको लेहनकर—चाट-पोंछकर उन्हें समुज्ज्वल बना देती हैं, वैसे ही नन्दनन्दनके धूलि-धूसरित अङ्गोंको लेहन करनेकी वासना भी उनमें उदय अवश्य होती है, पर पूर्ण नहीं हो पाती। उनकी प्रत्येक जातिगत चेष्टासे यह स्पष्ट हो जाता है कि यशोदानन्दनको अपने पार्श्वदेशमें अधिक-से-अधिक समयतक रखनेके लिये वे सतत व्याकुल रहती हैं। पर मूक अस्वतन्त्र पशु जो वे ठहरीं! उनके मनकी लहर मनमें ही विलीन हो जाती है! उनके रक्षकवर्ग गोपगण इसे अनुभव भी करते हैं, वे इनके भावसे स्वयं भावितसक हो उठते हैं। किंतु उनकी शक्ति भी सीमित है, नैसर्गिक नियमोंका उल्लङ्घन सम्भव जो नहीं! वे बेचारे कितनी देर उन गायोंको श्रीकृष्णचन्द्रके समीप रख सकेंगे?

किंतु आज सबका भाग्य जाग उठा। अनन्तैश्वर्य-निकेतन श्रीकृष्णचन्द्र गोपसुन्दरियोंके, गायोंके, अतीत-अनागत समस्त भावोंको इस समय प्रत्यक्ष देख जो रहे हैं। अन्तर्यामीरूपसे तो सदा ही देखते रहे हैं, पर आजका देखना कुछ और ही है। आज तो इन समस्त भावोंका पूरा-पूरा मूल्य देनेके लिये वे प्रस्तुत हो गये हैं। उनकी कृपाशक्तिने इन समस्त भावोंपर अपनी स्वीकृतिकी छाप लगा दी है, कृपा-परवश हुए स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन आज सबके मनोरथ पूर्ण करने जा रहे हैं।

क्या, कब, कैसे करना है—यह वास्तवमें श्रीकृष्णचन्द्रको सोचना नहीं पड़ता, उसके लिये रंचकमात्र भी प्रयास नहीं करना पड़ता, उनका संकल्प तो उदय होनेसे पूर्व ही मानो मूर्त हुआ रहता है। पर वे बाल्यलीला-विहारी जो ठहरे। रसकी लहरें ऐश्वर्यकी प्रत्येक ऊर्मिको सम्पुटित किये बिना रह नहीं सकतीं। इसीलिये व्रजेन्द्रनन्दन अपने स्वरूपमें स्थित रहते हुए ही, अपनी अनन्त सामर्थ्यको भूले-से होकर विशुद्ध सख्यकी भावनासे पुनः अभिभूत हो जाते हैं। सोचने लग जाते हैं—'आह!' उन सखाओंके बिना मैं कैसे रह पाऊँगा? क्या उपाय करूँ?' इन शिशुओंकी माताओंका, गोवत्सोंकी जननी उन गायोंका आनन्दवर्द्धन हो, इसके साथ ही मानो उन्हें अपनी चिन्ता भी लग गयी। किंतु अब पट-परिवर्तनका समय उपस्थित हो चुका है। भुवन-भास्कर पश्चिम क्षितिजको छूने जा रहे हैं। इसलिये इस अभिनयको यहीं विराम देकर श्रीकृष्णचन्द्र आगेके दृश्यका उद्घाटन करते हैं। यह दृश्य सर्वथा अनोखा है; विश्वस्रष्टाओंके भी ईश्वर स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र

ही एकमात्र, एकाकी इसके अभिनेता जो हैं। उनके अनुरूप ही यह खेल आरम्भ भी होता है। बस, क्षण भी नहीं लगता, नहीं-नहीं, लवमात्र काल भी पूर्ण न हो पाया होगा कि एक अभूतपूर्व चमत्कार मूर्त हो गया। अभी-अभी जहाँ केवल श्रीकृष्णचन्द्र थे, वहीं कलिन्दकन्याके उसी शुभ्र पुलिनपर वैसे-के-वैसे सम्पूर्ण सखा, गोवत्स—समस्त लीलापरिकर प्रकट हो गये। ब्रह्माके द्वारा अपहृत गोपशिशु, गोवत्स आ गये हों, यह बात नहीं। स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रने ही अपने आपको दो रूपोंमें प्रकट कर दिया। गोपसुन्दरियोंके, गौओंके एवं साथ ही पद्मयोनिके भी मनोरथ पूर्ण हों, सब-के-सब अपना चिर-अभिलषित पाकर आनन्दसिन्धुमें निमग्न हो जायँ, इस उद्देश्यसे वे असंख्य गोपशिशु एवं राशि-राशि गोवत्सोंके रूपमें स्वयं ही प्रकट हो गये—

ततः कृष्णो मुदं कर्तुं तन्मातॄणां च कस्य च।
उभयायितमात्मानं चक्रे विश्वकृदीश्वरः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। १८)

महामहेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रके इस आत्मप्रकाशका चमत्कार देखने ही योग्य है! विधाताके द्वारा अपहृत मायामुग्ध गोपशिशुओंकी, गोवत्सोंकी जितनी संख्या थी, ठीक उतनी ही संख्यामें ये गोपशिशु, गोवत्स भी हैं। उन शिशुओंके बाल्योचित शरीरका परिमाण जितने हाथ, जितने अंगुलका था, गोवत्स जितने ऊँचे एवं लंबे थे, इस नवीन प्रकाशमें भी शिशुओंके कलेवरका परिमाण ठीक उतना ही है, गोवत्स भी उतने ही ऊँचे-लंबे हैं। उनके कर-चरण आदि जैसे, जितने परिमित थे, इनके भी वैसे ही उतने ही परिमित हैं। उनके वत्सचारणके उपयोगमें आनेवाली छड़ीकी, वेत्रयष्टिकी जैसी आकृति थी, वह जितनी बड़ी थी, वैसी ही उतनी बड़ी छड़ी ही इनके पास भी हैं। उनके शृङ्ग, वेणु एवं छीके जैसे जितने बड़े थे, वैसे-के-वैसे उतने परिमाणके ही सब कुछ इनके पास भी हैं। उनके जिन-जिन अङ्गोंमें जैसे जो-जो किसलय-कुसुम आदिके आभूषण थे, इनके अङ्गोंमें भी वे वैसे ही आभूषण परिशोभित हो रहे हैं। उनके जो जैसे परिधान-वस्त्र थे, इनके भी वे ही वैसे ही हैं। इतना ही नहीं, स्वभावसे वे जैसे धीर या चञ्चल थे, वैसे ही इनके स्वभावमें भी ठीक वैसा ही धैर्य अथवा चञ्चलता भरी है। जो गुण उनमें थे, वे-के-वे इनमें हैं। उनके जो नाम थे, वे ही इनके हैं। उनकी जैसी आकृति थी, ठीक वैसी-की-वैसी आकृति ही इन सबकी भी है। जो जितनी आयुका बालक था, ठीक उतनी आयुके ही ये सब भी हैं। चलनेकी भङ्गिमा, अन्य चेष्टाएँ, कण्ठस्वर, परस्परके सख्य-व्यवहार आदि भी जैसे उनके थे, वैसे इनके हैं। सारांश यह कि स्वरूप, रंग, आकृति, चिह्न, स्वभाव, स्वर, वस्त्र, आभूषण, चाल, दोष, गुण, रुचि, अरुचि सभी वैसे-के-वैसे ही हैं। उनमें किसी भी प्रकारका तनिक भी अन्तर नहीं। मानो सचमुच ही श्रीकृष्णचन्द्र आज अपने इस आत्मप्रकाशकी पाठशालामें '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**'—यह सब कुछ निश्चय ही ब्रह्म है, '**सर्वं विष्णुमयं जगत्**'—यह समस्त जगत् विष्णुमय है—इन श्रुति-पुराणवाक्योंका वास्तविक अर्थ प्रकाशित करने चले हों, इनके अर्थके सम्बन्धमें किसीको तनिक भी भ्रम, संशय न रह जाय, इस उद्देश्यसे अर्थको मूर्तिमान् कर दे रहे हों! सर्वात्मक होकर—इन समस्त गोपशिशु, गोवत्स एवं उनकी समस्त वस्तुओंके रूपमें स्वयं ही परिणत होकर मानो इसीलिये वे अभिव्यक्त हुए हों—

यावद् वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत् करांघ्र्यादिकं
यावद् यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद्विभूषाम्बरम्।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद् विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। १९)

उभयरूप हरि आपुहि भयऊ।
बछरा-बत्सपाल जस थयेऊ॥
जैसे चरन-करन-मुख जासू।
सील-सुभाव, बोल, जस हासू॥
चलन, चातुरी, छरी, बिभूषन।
नाम, दाम, तनियाँ कछु दूषन॥
असन, बसन, मुसुकनि जसि जासू।
जस बिषान बय बेनु बिलासू॥

जस बिहार, जसि रुचि, गुण ग्रामा।
सकल भए हरि सुखमय धामा॥
सर्व बिष्णुमयं इमि जानी।
कहत बेद इमि सदा बखानी॥
सत्य करी करुनानिधि ताही।
भए सकलमय निज चित चाही॥
× × ×

जितक हुते बछ-बाछी-बाल, आपु ही भए कुँवर नँदलाल।
वैसेइ कंजर, अंबर, हार, वैसेइ सहज अहार-बिहार॥
वैसेइ नाम, दाम, गुन नीके, वैसेइ सृंग, बेनु, दल, छीके।
वैसियै हसनि, चहनि पुनि बोलनि, वैसियै लटकनि, मटकनि, डोलनि
नूपुर, कंकन, किंकिनि, माल, सबै भए ईस्वर नँदलाल।
बेद जु बिदित बिस्व वह जिते, सबै बिस्नुमय भासत तिते॥
जो यह बानी निगमन गाई, सो प्रभु मूर्तिवंत दिखराई।

कहीं किसी भी अंशमें कोई त्रुटि नहीं रही है। रहेगी ही क्यों? यह तो मानो व्रजेन्द्रकुलचन्द्रके चिर-अभ्यासकी वस्तु है। प्रलयके अनन्तर जब सृजन होने लगता है, उस समय विश्वस्रष्टा पूर्वसृष्टिके सर्वथा अनुरूप ही वस्तुओंका निर्माण करते हैं। वैसे ही गगन-पवन निर्मित होते हैं; चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, अशेष तारकपङ्क्तिकी रचना भी वैसी ही होती है; समुद्र, धरा, गिरिश्रेणी, वृक्ष, गुल्म, लताएँ—वैसी-की-वैसी बनती हैं। अनन्त जीव-समुदायका प्रत्येक प्राणी गतसृष्टिमें जिस कर्मफलका जो अंश जिस भावसे भोग कर रहा था, सर्वथा सर्वांशमें ठीक उसी कर्मफलके उसी भागका भोग साथ लिये, उसी प्रक्रियाका अनुसरण करते हुए व्यक्त हो जाता है—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।

विश्वस्रष्टाके इन समस्त कर्मोंमें तिलमात्र भी कहीं भूल नहीं हो पाती। अनादिसृष्टिके प्रवाहमें स्रष्टा एक बार भी, कभी कहीं भी नहीं चूकते। फिर ऐसे अनन्त विश्वस्रष्टाओंके नियन्ता नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रसे भूल कैसे होगी? वे जब स्वयं ही शिशु, गोवत्स, वेत्र, विषाण, वेणु, छीका, कङ्कण, किङ्किणी, नूपुर, गोवत्सकण्ठकी घण्टिका आदि सब कुछ बन गये हैं, तब भी त्रुटि रहेगी? नहीं-नहीं, इसमें कहीं भ्रम-प्रमादके लिये अवकाश नहीं। और सच तो यह है कि 'सृजन', 'सृष्टि' आदि शब्दोंमें यह सामर्थ्य ही नहीं कि श्रीकृष्णचन्द्रके इस आत्मप्रकाशकी रूप-रेखाको रंचकमात्र भी वे किसीको हृदयंगम करा सकें। यह प्रापञ्चिक सृष्टि जैसी कोई वस्तु नहीं, जो नियमोंकी परिधिमें समा सके। यह मायिक सृष्टि होती, तब कुछ कहना-सुनना बनता। मायिक सृष्टिके द्वारा नित्यलीला-विहारी श्रीकृष्णचन्द्रके नित्यलीलापरिकरोंका प्रतिनिधित्व सम्भव जो नहीं। इसीलिये यह श्रीकृष्णचन्द्रके अपने-आपद्वारा सम्पादित है तथा इससे आगे इस सम्बन्धमें संकेतके रूपमें इतना ही कहा जा सकता है कि यह आनन्दात्मक है, चिदात्मक है, यह समस्त परिणति सर्वथा विशुद्ध है, अपने कारणसे सर्वथा अभिन्न है। तथापि यह लीलाकी संघटनाके उद्देश्यसे है, इसलिये उन लीलापरिकरोंके स्वभावका इसमें उन्मेष हो गया है और इस कारणसे यह विभिन्न रूपोंमें प्रतिभासित हो रही है। वाणी इसकी रूप-रेखाका निर्देश कर ही नहीं सकती, यह अनिर्वचनीय है। बस, यह अद्भुत है। यदि इसे सृष्टि कहें तो यह सृजनका उत्कृष्टतम रूप है, सबसे विलक्षण ही यह बना है—

आनन्दात्मचिदात्मकं च तदिदं स्वेनैव सम्पादितं शुद्धं
यद्यपि कार्यजातमखिलं नो कारणाद्भिद्यते।
लीलोपाधि तथापि भिन्नमभवत्तेषां स्वभावोदयात्
सोऽनिर्वाच्यतयाद्भुतः परमभूत्सर्गो निसर्गोत्तमः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अस्तु, इस अभिव्यक्तिके अनन्तर श्रीकृष्णचन्द्रका पुनः आत्मविहार आरम्भ हो जाता है। स्वयं तो वे मूलस्वरूपमें अवस्थित हैं ही और फिर स्वयं अपने ही गोपशिशु बने हुए रूपोंके द्वारा स्वस्वरूप गोवत्सोंका आह्वान करने लगते हैं, उन्हें वनसे लौटाने लगते हैं। 'श्रीदाम रे! भैया रे सुबल! देख कितना विलम्ब हो चुका! सूर्य तो आज यहीं वनमें ही अस्तप्राय हो चुके। अतिशय शीघ्रता कर, अन्यथा मैया चिन्तित हो जायँगी।'—यह आदेश लीलाविहारी अपने निजरूप सखाओंको दे डालते हैं। सखासमुदाय भी पुलिनको 'हैओ हैओ, अरे रे रे' की ध्वनिसे निनादितकर राशि-

राशि गोवत्सरूपोंमें अवस्थित श्रीकृष्णचन्द्रको ही हाँक ले चलते हैं। साथ ही वेणुनाद, शृङ्गनाद, परस्परकी क्रीड़ा, नृत्य-गीत आदिका क्रम भी चल ही पड़ता है। इस आनन्दप्रवाहमें ही चलते-चलते उनकी सीमा समाप्त हो जाती है तथा सर्वात्मा-स्वयं ही शिशु एवं गोवत्सरूप बने हुए श्रीकृष्णचन्द्र व्रजमें प्रवेश करते हैं—

स्वयमात्माऽऽत्मगोवत्सान् प्रतिवार्यात्मवत्सपैः।
क्रीडन्नात्मविहारैश्च सर्वात्मा प्राविशद् व्रजम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। २०)

अखिल लोकपति मुकुटमनि है सरूप धरि भूप।
चरत-चरावत आपुही बछरा-ग्वाल अनूप॥
फेरत-घेरत आपु, खेलत ब्याज अनेक बिधि।
करत जु बिबिध प्रलाप, गए अमित है अमित गृह॥

व्रजमें आकर भी सदाकी भाँति ही समस्त नियमोंका पालन होता है। 'यहाँ, इस चतुष्पथ-चौराहेसे श्रीदामके गोवत्स अलग हो जाते हैं।' आज भी अलग हो गये और अपने गोष्ठकी ओर चल पड़े। जहाँ जिस शिशुका नियत स्थल है, वहीं आज भी उसके गोवत्स पृथक् होते हैं और वह उनका अनुगमन करता है। गोवत्सोंको गोष्ठमें—उनके सदाके निर्दिष्ट वासस्थानमें ले जाकर शिशु उनकी ग्रीवामें बन्धनरज्जु भी वैसे ही डालते हैं, वत्समूह भी अपने पालककी इच्छाको स्वीकार करता हुआ सदाकी भाँति स्वभावगत अपनी चञ्चल या धीर मुद्रा धारण कर लेता है। यह कार्य सम्पन्न करनेके अनन्तर वे बालक अपने-अपने सदनमें प्रवेश करते हैं। वास्तवमें आज न तो कोई गोपशिशु है, न कोई गोवत्स। स्वयं श्रीकृष्णचन्द्र ही उन-उन सखाओंके रूपमें निर्दिष्ट स्थल आनेपर पृथक् हुए हैं तथा नियत मार्गसे गोवत्सोंको—अपने-आपको ही गोष्ठकी ओर हाँक ले चले हैं। उन्होंने स्वयं ही तो शिशुरूपमें रज्जुबन्धन डाला है और स्वयं ही गोवत्सरूपमें उस बन्धनको स्वीकार किया है। और यह सब करके स्वयं एकाकी वे ही पृथक्-पृथक्-रूपसे अनन्त गृहोंमें प्रविष्ट हो गये हैं।

तत्तद्वत्सान् पृथङ्नीत्वा तत्तद्गोष्ठे निवेश्य सः।
तत्तदात्माभवद् राजंस्तत्तत्सद्म प्रविष्टवान्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। २१)

आजका व्रजप्रवेश, गृहप्रवेश भी और दिनोंकी अपेक्षा कुछ विचित्र ही हुआ है। इधर संध्याने श्याम-अञ्चलका विस्तार किया और उधर नीलसुन्दरका वेणुनाद व्रजपुरके कण-कणमें झंकृत हो उठा। गोपसुन्दरियाँ आकुल नेत्रोंसे प्रतीक्षा कर रही थीं, अन्य दिनोंकी अपेक्षा आज पर्याप्त विलम्ब भी हो चुका था। कतिपय अतिशय कोमलहृदया वात्सल्यवती देवियाँ तो कुछ अन्य आशङ्काएँ करने लग गयी थीं, व्रजरानीका तो कहना ही क्या है। इतनेमें ही वेणुका स्वर सुन पड़ा। प्राणोंकी उत्कण्ठा लिये सब-की-सब अपने-अपने द्वारदेशपर तोरणके समीप आ गयीं। कुछ तो विह्वल होकर और भी आगे चली गयीं। क्रमशः श्रीकृष्णचन्द्र निकट-निकटतर होते गये और व्रजपुरन्ध्रियोंके नेत्र शीतल होने लगे। पर आज उनकी दृष्टि चटपट बरबस चली गयी अपने गर्भजात शिशुओंकी ओर। वे भी श्रीकृष्णचन्द्रको आवृत किये झूमते आ रहे थे। और दिन यह होता था—गोपसुन्दरियोंकी आँखें अपने पुत्रोंका सचमुच तिरस्कार कर देती थीं, उनके नेत्रोंमें समा जाते थे एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्र, अन्य समस्त दृश्य उनके सामनेसे मानो विलुप्त हो जाते थे। तथा फिर अपने द्वारतक श्रीकृष्णचन्द्र पहुँचे, यह धैर्य भी कहाँ रहे? वे दौड़ पड़तीं और नीलमणिको अपने अङ्कमें भर लेतीं। संध्याके एक दण्डमात्र समयमें असंख्य व्रजदेवियोंका यह दैनिक क्रम कैसे पूरा होता था—इसका समाधान मानवी, प्राकृत बुद्धिसे होनेका ही नहीं। पर यह ध्रुव सत्य है कि ऐसा प्रतिदिन ही हो जाता था और वे गोपसुन्दरियाँ सुखसागरमें निमग्न हो जाती थीं। इस प्रकार सबके प्रीति-उपहारका सुख लेते श्रीकृष्णचन्द्र अन्तमें अपनी जननीके अङ्कमें आते थे; किंतु आजका क्रम मानो सर्वथा बदल गया। सबकी दृष्टि एक बार तो श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर गयी अवश्य, पर तुरंत लौटी

और ऐसी लौटी कि मानो नीलसुन्दरको सर्वथा भूलकर अपने पुत्रोंमें ही समा गयी। आज श्रीकृष्णचन्द्रको क्रोडमें धारण करनेकी उत्कण्ठा न जाने क्यों— जागी ही नहीं; अपितु उसके स्थानपर अपने पुत्रोंका ममत्व ही लहरा उठा, प्राण अपने पुत्रोंका ही स्पर्श पानेके लिये नाच उठे। दौड़ीं तो सब-की-सब ही, पर उन्होंने गोदमें उठाया आज अपने-अपने पुत्रोंको ही और स्नेहातिरेकसे उन्हें वक्षःस्थलपर धारणकर उन्मादिनी-सी हो उठीं। निमेष बीतते-न-बीतते वात्सल्यका आवेग और भी द्रुत हो गया, इस कारण स्वयमेव उनके स्तनोंसे दुग्ध क्षरित होने लगा; अमृतधाराके समान स्वादु, आसवकी भाँति मादक इस दुग्धको अपने पुत्रोंके मुखमें देनेका लोभ वे संवरण नहीं कर सकीं। शिशुके कपोलोंपर हृदयस्पर्शी स्नेहका चुम्बन अङ्कितकर वे उनके चूर्णकुन्तल सहलाने लगती हैं, धूलिकण झाड़ने लगती हैं; साथ ही अपना स्तनाग्र उनके मुखमें देकर स्तनपीयूष पिलाने लग जाती हैं। वे नहीं जानतीं, पर आज उन्हें वास्तवमें चिरवाञ्छित परम फल मिल गया है। उनके मनोरथ पूर्ण हो रहे हैं। अपने पुत्ररूपमें पाकर, मानकर, अनुभव कर वे वात्सल्यवती गोपसुन्दरियाँ परब्रह्म पुरुषोत्तमको ही वक्षःस्थलपर धारणकर स्तन्यपान करा रही हैं, उन्हें वात्सल्यरसका उपहार समर्पित कर रही हैं।

तन्मातरो वेणुरवत्वरोत्थिता
उत्थाप्य दोर्भिः परिरभ्य निर्भरम्।
स्नेहस्नुतस्तन्यपयस्सुधासवं
मत्वा परं ब्रह्म सुतानपाययन्॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। २२)

बेनु कि धुनि सुनि गोपी धाईं।
अपने कंठनि लै लपटाईं॥
धूरि झारि पुनि पुनि मुख घूमनि।
नहिं कहि परै प्रेमकी घूमनि॥
× × ×
सुभग उरोज स्रवत पय धाईं।
सुत उठाइ उर लै लपटाईं॥
सुअन जानि परब्रह्म उठाईं।
अंक राखि निज हृदयँ लगाईं॥
सुधा सरिस पय पान कराईं।
जानहु परम भाग्य नराईं॥

अस्तु, जब भावावेग किंचित् शान्त होता है, तब माताओंका ध्यान अन्य कृत्योंकी ओर जाता है। प्रतिदिनका ही तो नियम है— श्रीकृष्णचन्द्र सायंकाल वत्सचारण करके लौटते हैं, उनके सखा भी उनके साथ ही आते हैं। आज भी वैसे ही नीलसुन्दर वनसे लौटे हैं। शिशु भी साथ ही आये हैं तथा माताएँ अब उनका संलालन करने जा रही हैं। वे नहीं जान पातीं कि आज इन असंख्य गोपशिशुओंके रूपमें स्वयं नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र ही हैं। जानें भी कैसे? कोई अन्तर हो तब तो? जिस बालककी जो जैसी चेष्टा सदा घरपर हुआ करती, सर्वथा वैसी ही तो आज भी है। जो शिशु जिस कमनीय भङ्गिमासे अपनी जननीका आनन्दवर्द्धन करता, वह आज भी वैसी ही मनोहर बाल्यचेष्टाओंसे अपनी माताके हृत्तलको आनन्दपूरित किये दे रहा है! माताएँ भी इन पुत्ररूपधारी श्रीकृष्णचन्द्रके संलालनमें व्यस्त हैं। संध्या तो हो ही चुकी है, रजनीकी छाया भी आ गयी है और उन्हें अभी बहुत-से कार्य करने हैं। पर आज उनका उल्लास अपने-आप शत-सहस्रगुणित हो चुका है। अतः कहीं उद्विग्नता नहीं है। परम स्नेहपूरित तत्परतासे वे अपने कार्यमें लगी हैं। सदाकी भाँति ही वे अपने पुत्रोंके— वास्तवमें श्रीकृष्णचन्द्रके— अङ्गोंमें सुगन्धित तैलका अभ्यञ्जन करती हैं, उबटन लगाती हैं, यह हो जानेपर उन्हें स्नान कराती हैं। फिर चन्दन आदिसे निर्मित सुन्दर अङ्गराग लगाती हैं, वसन-भूषणसे शृङ्गार धारण कराती हैं और तब रक्षा-तिलक करती हैं— केशव आदि नामोंसे उनके ललाट आदि द्वादश अङ्गोंमें रक्षातिलक लगा देती हैं। यह सब करनेके उपरान्त विविध व्यञ्जनोंके सहित मोदक, पूप आदि अनेक सुन्दर सुभोज्य पदार्थोंसे उन्हें भोजन कराती हैं। शिशुरूपधारी श्रीकृष्णचन्द्रसे आजकी वनचर्याका विवरण सुनती हैं। वर्णन करते-करते उनके नेत्रसरोजोंमें आलस्य भरने लगता है। तब माताएँ सुखद सुरम्य शय्यापर उन्हें शयन करा देती हैं।

इस प्रकार असंख्य गोपबालकरूपधारी बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्र अगणित गृहोंमें अनन्त माताओंके द्वारा समादृत होकर परम आनन्दका अनुभव करते हैं—

ततो नृपोन्मर्दनमज्जलेपना-
लङ्काररक्षातिलकाशनादिभिः ।
संलालितः स्वाचरितैः प्रहर्षयन्
सायं गतो यामयमेन माधवः ॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। २३)

उबटन डबटि सलिल अन्हवाए, मनभाए भोजन करवाए।

× × ×

चंदन चर्चि, सुभग तन देखी।
होत हृदयँ आनंद बिसेखी॥
रक्षातिलक, असन भलि रीती।
सुतन्ह लड़ावहिं निति नव प्रीती॥
इमि क्रीड़ा निरखत सुत केरे।
संध्या भई सनेह घनेरे॥

उधर उन गोवत्सजननी गायोंकी दशा भी विचित्र ही है, मुनीन्द्रोंका मन मोहित कर देनेवाली है—

अब सुनि लै गाइन की पेम,
बिसरत जिहि दिखि मुनि-मन-नेम।

अभी-अभी तो वे भी वनसे लौटी हैं, वयस्क गोपगण इन्हें वनमें तृण चराकर लौटा लाये हैं। किंतु जैसे ही इस धेनुसमूहने गोशालामें प्रवेश किया, उनकी दृष्टि गोवत्सोंपर पड़ी कि फिर तो कहना ही क्या है! सम्पूर्ण गोष्ठमें सब ओर उनके हुंकारघोषसे, मृदु गम्भीर हाम्बारवसे मानो वात्सल्यका स्रोत उमड़ चलता है। उनके रक्षकवर्ग गोपगण मूक धेनुओंकी यह आजकी अभूतपूर्व स्नेहविह्वलता देख स्वयं भावद्रवित हो उठते हैं। तथा फिर, ओह! गोशावकरूपधारी नन्दनन्दनकी त्वरा, जननीके हाम्बारवका आवाहन सुनकर शीघ्रातिशीघ्र मिलनका वह अद्भुत प्रयास एवं क्षणमात्रमें ही सम्मिलन—इस प्रेमिल दृश्यका वर्णन कौन करे। इन गायोंके इनसे अपेक्षाकृत छोटे स्तनपायी गोवत्स हैं, वहीं उस गोष्ठमें ही उपस्थित भी हैं। पर उनकी ओर तो इनका जैसे तनिक भी ध्यान नहीं; और इन मुक्तस्तन्य वत्सतरोंके प्रति अपना सर्वस्व न्योछावर किये दे रही हैं; इन्हें देखकर, अपने पार्श्वमें पाकर प्रेममत्त हो गयी हैं। इन वत्सतरोंको भी प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं, अपने-आप उन गायोंके थनसे दूधका निर्झर झरने लगता है। ये गोशावक दुग्धपान करने लगते हैं तथा अप्रतिम उल्लासमें डूबी हुई-सी गायें बार-बार उनके अङ्गोंका लेहन करने लगती हैं—

गावस्ततो गोष्ठमुपेत्य सत्वरं
हुङ्कारघोषैः परिहूतसङ्गतान्।
स्वकान् स्वकान् वत्सतरानपाययन्
मुहुर्लिहन्त्यः स्रवदौधसं पयः ॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। २४)

खरिक निकट जब बछरा बोलै,
सुनतहिं गोधनबृंद कलोलै।
हूँकि-हूँकि आतुर गति आवनि,
इत तें इन बछरन की धावनि॥
चुसनि, चुसावनि, चाटनि, चूँबनि,
बार-बार हित की वह डूबनि।

× × ×

मनहु लीलि जैहै अति प्रेमा, लहै न जोगी करि बहु नेमा॥

अस्तु, यह है व्रजेन्द्रनन्दनके आत्मविहारका प्रथम दिवस। और अभी तो शरद् है। फिर हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, पावस ऋतुएँ आयेंगी। पुनः शारदीय शोभा श्रीवृन्दाकाननको, व्रजपुरके आकाशको अलंकृत करेगी। तबतक व्रजराजकुमार एकाकी ही वनमें, पुरवीथियोंमें विहरण करते रहेंगे—

आपुहि बछरा, आपुहि बाल,
बिहरत ब्रज बन मोहनलाल।

व्रजके सम्पूर्ण गोपबालक एवं गोवत्स बने हुए श्रीकृष्णका यह खेल प्रायः एक वर्षतक निर्बाध चलता है, किसीको इस रहस्यका पता नहीं लगता। एक वर्षमें पाँच-छः दिन कम रहनेपर एक दिन बलरामजीको वनमें गायोंका अपने पहलेके बछड़ोंपर तथा गोपोंका अपने बालकोंपर असीम और अदम्य स्नेह देखकर आश्चर्य होता है और तब श्रीकृष्ण उनके सामने इस रहस्यका उद्घाटन करते हैं

प्रभात होता, संध्या आती, निशाके श्याम अथवा शुभ्र आवरणसे व्रजपुर आवृत हो जाता एवं पुनः तरणिकिरणें उसे आलोकित करने लगतीं—इस क्रमसे दिन-पर-दिन बीतने लगे। पर किसीने भी गोपशिशु बने तथा गोवत्सरूपधारी श्रीकृष्णचन्द्रको पहचाना नहीं। व्रजपुरन्ध्रियोंका, गायोंका वात्सल्य—मातृभाव ज्यों-का-त्यों रहा; पुत्र बने हुए नन्दनन्दनके प्रति गोपसुन्दरियोंके मनमें कभी कोई अन्यथा आशङ्का नहीं हुई, उनके पुत्र-संलालनकी प्रणाली वैसी-की-वैसी बनी रही; गायें भी वत्सरूपमें विराजित व्रजविहारीको सर्वथा अपना गर्भजात शावक ही अनुभव करतीं, उन्हें दूध पिलाकर, चाट-पोंछकर कृतार्थ होतीं। सब बातें पहलेकी भाँति ही ज्यों-की-त्यों बनी रहीं। अनन्त गृहोंमें, गोष्ठोंमें असंख्य शिशुओं एवं वत्सोंकी मूर्ति धारण किये हुए श्रीकृष्णचन्द्रका यथोचित बाल्यभाव भी पूर्णतया पहले-जैसा ही रहा; किंतु दोनों ओर ही एक अन्तर अवश्य हो गया था। वह यह कि गोपसुन्दरियोंके हृदयोंमें अपने पुत्रोंके प्रति, गायोंके अन्तस्तलमें वत्सतरोंके प्रति जो स्नेहकी धारा थी, उसका रूप बदल गया था। पहले यह प्रवाह स्वाभाविक शान्त एवं समगतिका था और अब वह अतिशय वेगसे बढ़ने लगा, हिलोरें लेने लग गया था। तथा उधर श्रीकृष्णचन्द्रमें, 'मेरी यह जननी है, मैं इसका पुत्र हूँ'—ऐसी भावना, पहलेके गोपशिशुओंमें, गोवत्सोंमें नित्य वर्तमान रहनेवाले मोहकी यह वृत्ति नहीं रही थी, शिशु एवं वत्सरूपमें विराजित रहनेपर भी अपने स्वरूपमें ही वे नित्य प्रतिष्ठित थे—

गोगोपीनां मातृतास्मिन् सर्वा स्नेहर्द्धिकां विना।
पुरोवदास्वपि हरेस्तोकता मायया विना॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। २५)

मातृभाव ज्यौं-त्यौं भयौ गो-गोपिन तेहि काल।
पूरब बालन ते अधिक नेह-बृद्धि एहि बाल॥
हरि महँ भई असेष, गो-गोपिनकी मातृता।
एतनौ भयौ बिसेष, नेहाधिक्य बिना लसत॥
गो-गोपिनके माहिं कृष्नचंद्र कहँ भाव नित।
प्रथम सरिस सब आहि तोक-भावना जननि पर॥
तोक-भावना हरि कहँ तैसी।
प्रथम हुती मातन पर जैसी॥
एक मोह बिनु जानु महीसा।
बाल-भाव किय प्रभु जगदीसा॥
मैं हौं सुत, यह है मम माता।
एतने बिना जानियहु ताता॥

यहाँ नन्दभवनमें भी व्रजेश्वरीका, उनके नीलमणिका और समस्त कार्यक्रम तो ज्यों-का-त्यों चल रहा था। प्रातः-समीरका स्पर्श पाते ही जननी यशोदा अपने पुत्रको विविध मनुहारके द्वारा प्रतिदिन ही जगातीं—

मोहन जागि, हौं बलि गई।
तेरे कारन स्यामसुंदर नई मुरली लई॥
ग्वाल-बाल सब द्वार ठाढ़े, बेर बन की भई।
गायन के सब बंद छूटे, डगर बन की लई॥
पीत-पट करि दूरि मुखतें, झाँड़ि दै अरसई।
अति अनंदित होत जसुमति,
देखि दुति नित नई॥
जागे जंगम जीव पसु खग और ब्रज सबई।
सूर के प्रभु दरस दीजै होत आनंदमई॥

—तथा श्रीकृष्णचन्द्र भी निद्रा त्यागकर अपनी परम मनोहर चेष्टाओंसे व्रजरानीका, श्रीरोहिणीका आनन्दवर्द्धन करते। फिर अग्रजके सहित नीलसुन्दरका संलालन होता और तब वे वत्सचारणके लिये वनमें चले जाते। सायंकाल लौटते माता उन्हें अङ्कमें धारण करतीं, अपने कोटि प्राणोंका स्नेह देकर, ऋतुके अनुरूप उपचारोंसे लालितकर वनका श्रम हरतीं, ब्यारू होती और श्रीकृष्णचन्द्र पौढ़ जाते, प्रतिक्षण बढ़ते उल्लाससे प्रत्येक चर्या सदाकी भाँति पूर्ण होती; किंतु एक विलक्षणता यहाँ भी हो गयी थी। अब नन्दभवनमें पुरसुन्दरियोंकी भीड़ जो नहीं रही! कहाँ तो श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनसे नेत्र शीतल करने, उन्हें क्रोड़में लेकर प्राणोंकी व्यथा शान्त करनेके लिये एकत्र हुई गोपिकाओंसे राजप्रासादका कोना-कोना पूर्ण रहता—यह दशा थी। और अब बाहरका कोई नहीं! अब तो व्रजेश्वरका परिवार—नन्दराय, यशोदारानी, श्रीरोहिणी, सेवक, गोप, दासियाँ, परिचारिकाएँ—इनका साम्राज्य है; ये चाहें जैसे राम-श्यामको लाड़ लड़ावें! पहले तो बाहरसे आयी गोपीको सम्मान देना अनिवार्य हो जाता; वह नीलमणिको अपना स्नेह समर्पित कर सके, उसे ऐसा अवसर देना ही पड़ता। और एक-दो हों तो भी बात थी। जब समस्त व्रजमण्डल ही उमड़ आता है, तब घरवालोंकी स्वच्छन्दता छिनेगी ही। पर अब उन्हें पूर्ण सुयोग मिल गया है मनमाना करनेका। साथ ही इस ओर किसीका ध्यान भी नहीं गया। पुरसुन्दरियाँ क्यों नहीं आतीं, यह प्रश्न भी किसीके मनमें उदय नहीं हुआ। जैसे कुछ भी नवीनता हुई ही नहीं हो—यही अनुभूति परिवारके प्रत्येक सदस्यको है। अधिक आश्चर्य तो यह है कि स्वयं पुरवासियोंको भी पता नहीं कि उनकी जीवनधारामें कोई परिवर्तन हुआ है! वे कुछ भी नहीं जानते और जान पायेंगे भी नहीं; किंतु वस्तुस्थिति तो सर्वथा बदल ही गयी है। सचमुच व्रजपुर दूसरा-सा बन गया है। दिन बीत रहे हैं और यह उत्तरोत्तर बदलता जा रहा है। बलिहारी है लीलाविहारीकी इस लीलाकी! कुछ दिन पूर्व यशोदानन्दन व्रजपुरवासियोंके लिये अपने कोटि-कोटि प्राणोंसे भी अधिक प्रिय रहे हैं; क्षणभरके लिये भी उनके अन्तस्तलमें, बाह्य व्यवहारमें—जबसे श्रीकृष्णचन्द्र दृष्टिपथमें आये—अपनी संतानके लिये वैसे प्यारका उन्मेष नहीं हुआ। पर आज? देखनेकी बात है—श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति प्यार कम हुआ हो, यह बात तो नहीं है; किंतु ठीक वैसा ही, उसी जातिका स्नेह उनके मनमें, प्रत्येक चेष्टामें अपने गर्भजात शिशुओंके लिये निरन्तर लहरा रहा है। जो असीम प्रीति श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति है, वैसी-की-वैसी वही स्नेहलता अपने बच्चोंमें प्रतिदिन क्रमशः बढ़ती रहकर ओर-छोर-विहीन बन गयी है—वर्षपर्यन्त परिवर्द्धित होती हुई निस्सीम बन गयी है तथा ठीक यही दशा उन गायोंकी भी है। अपने वत्सतरोंके लिये उनका स्नेह भी क्रमशः ऐसा ही अपरिसीम बन गया है—

व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याब्दमन्वहम्।
शनैर्निस्सीम ववृधे यथा कृष्णे त्वपूर्ववत्॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। २६)

नेह बृद्धि ब्रज जुवतिन केरी।
सुनहु तात तोहि कहौं निबेरी॥
नर-नारी जे कोउ ब्रजबासी।
तिन के प्रान कृष्न सुख रासी॥
निज पुत्रन तें कृष्न मझारा।
अति सनेह—यह प्रथम बिचारा॥
अब निज सुअन माँझ अति प्रीती।
बढ़ी निरंतर सुखमय रीती॥
बरस एक बाढ़ी सब काहू।
नेह-लता निज सुत चित चाहू॥

अस्तु, इस प्रकार सर्वात्मस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रका यह अद्भुत आत्मविहार प्रायः वर्षपर्यन्त चलता रहा।

शिशु एवं गोवत्सका मनोहर स्वाँग लेकर, साथ ही यशोदानन्दनके रूपमें भी नित्य सबके संचालक बने रहकर वे यह खेल खेलते रहे, अपने-आप द्वारा अपने-आपका ही पालन करते रहे; स्वयं अपने-आपके ही साथ अपने-आप अनेक भुवनमोहन बाल्यक्रीडाकी, परम रमणीय कौतुककी रचना करते और सुखसिन्धुमें निमग्न हो जाते। काननमें, गोष्ठमें उनका यह वर्षव्यापी क्रीडाविलास निर्बाध होता रहा—

इत्थमात्माऽऽत्मनाऽऽत्मानं वत्सपालमिषेण सः।
पालयन् वत्सपो वर्षं चिक्रीडे वनगोष्ठयोः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। २७)

एहि बिधि भए बत्स हरि आपू।
मेटन हित निज जन परितापू॥
बछरा बत्सपाल के ब्याजा।
पाल्यौ निज जन जीव समाजा॥
गृह बन फिरत, करत बहु लीला।
कृपासिंधु गुन गन बहु सीला॥
बरष प्रजंत गयउ एहि रीती।
लखेउ न काहुँ बढ़ै जो प्रीती॥

× × ×

ब्रजमंगल भगवान, ब्रह्म सच्चिदानंद प्रभु।
भक्तन के सुखदान, लगे देन सुख घरन, घर॥

और तो क्या—इतने दिन हो गये, अग्रज बलरामको भी इस रहस्यकी गन्धतक न मिली। वास्तविक गोपशिशु एवं गोवत्स मायामुग्ध हुए कहीं अन्यत्र विश्राम कर रहे हैं और उनके अनुज ही इन असंख्य रूपोंमें आत्मप्रकाश कर एक वर्षसे गोष्ठमें, वनमें विहार कर रहे हैं—यह कल्पना क्षणभरके लिये भी रोहिणीनन्दनके मनमें न आयी।

ऐसैं बरस दिवस निरबाहीं। संकरषन हूँ भेद न लाहीं।

बलराम जानें कैसे? व्रजेन्द्रकुलचन्द्रको यह अभिप्रेत जो न था। क्यों अभिप्रेत नहीं था, इसे तो एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्र ही जानते हैं। उनके किसी भी संकल्पका '**इत्थम्भूत**' समाधान पा लेना सम्भव ही नहीं है। पर यह सत्य है कि श्रीकृष्णचन्द्र नहीं चाहते थे और इसीलिये बलराम नहीं जान सके। आरम्भसे ही संयोग ऐसा बना कि वे इस अभिनयसे पृथक् हो गये। जिस दिन अघासुरका मोक्ष हुआ, विधाताकी माया फैली, शिशु-गोवत्स अपहृत हुए, उस दिन रोहिणीनन्दन वत्सचारणके लिये अनुजके साथ वनमें नहीं आ सके। वे आये होते तो सम्भवतः लीलाका प्रवाह कुछ और ही होता। श्रीकृष्णचन्द्रका वह योगीन्द्र-मुनीन्द्रदुर्लभ, परम पावन चरणस्पर्श अघ दैत्यको मिलता कि नहीं, यह कहना कठिन है। क्या पता, इससे पूर्व ही राम उसका कचूमर निकाल देते? और फिर उनके साथ रहनेपर, विधाता अपनी उस चेष्टासे उनके कोपभाजन न बन जाते—यह कौन कह सकता है? विधिकी माया उन्हें तो स्पर्श कर सकती नहीं। फिर ब्रह्ममोहनका यह प्रसङ्ग इसी रूपमें संघटित होता कि नहीं—इसका उत्तर पा लेना सहज नहीं। जो हो, हेतु कुछ भी हो, यह सर्वथा, सर्वांशमें सत्य है कि व्रजेन्द्रनन्दनकी ही इच्छा नहीं थी और इसीलिये राम प्रारम्भसे अबतक इस रहस्यसे अपरिचित रहे। अन्यथा श्रीकृष्णचन्द्रके 'शेष' नामसे अभिहित, उनके ही दूसरे रूप बलरामके लिये कौन-सी वस्तु अज्ञात है। पर अब पद्मयोनि मञ्चपर पुनः आनेवाले ही हैं। इसीलिये—'दाऊ भैयाको सूचना इससे पूर्व ही मिल जाय'—मानो श्रीकृष्णचन्द्रने यह इच्छा की और उसीके अनुरूप एक छोटी, पर नयी-सी घटना रोहिणीनन्दनके समक्ष घटित हुई।

उस दिन भी शरद्-ऋतु थी और आज भी शरद्के ही सुखद स्पर्शसे वन्य तरु, लतावल्लरियाँ, कुसुमसमूह, निरभ्र गगन—सभी हँस रहे हैं। तबसे—शिशु एवं गोवत्सोंके अपहृत होनेके दिनसे वर्ष पूर्ण होनेमें केवल पाँच-छः दिन और रहे हैं। अबतक प्रतिदिन ही नवीन उल्लासके साथ श्रीकृष्णचन्द्रका वत्सचारण होता आया है। आज भी वे बलरामके सहित वत्सचारणके लिये सदाकी भाँति वनमें पधारे हैं। जो नित्य अजन्मा हैं, वे ही श्रीकृष्णचन्द्र असंख्य गायोंके, गोपवनिताओंके पुत्र बने हुए, अपने-आपको अपने-आपके द्वारा ही घेरे हुए झूमते चले जा रहे हैं गिरिराजके चरणप्रान्तकी ओर—

एकदा चारयन् वत्सान् सरामो वनमाविशत्।
पञ्चषासु त्रियामासु हायनापूरणीष्वजः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। २८)

एतने दिन पर्जंत प्रभु चरित लखेउ नहिं राम।
रहेउ दिवस घट पाँच जब, लखेउ कछुक बलधाम॥
सो बरनत मुनि कृपानिधाना।
हरिचरित्र सुखप्रद जग जाना॥
एक समय बलदेव समेता।
बन गवने प्रभु कृपानिकेता॥
बत्स चरावन हेतु उदारा।
अपर सखा तेहि को गन पारा॥
बरष माँझ दिन पाँचक ऊना।
अति प्रसन्नता दिन दिन दूना॥
× × ×
उठि मोहन प्रात चले बन कौं।
लै राम, सखा, बछरागन कौं॥
बन कौं सुत मातनि जानि दए।
कच झाँटि, कलेऊ बाँधि दए॥
उर मोह पयोधि परी चलतें।
नहिं बात कढ़ै जु कछू गल तें॥
गौवैं बन जात रम्हाइ चलैं।
मुरकैं, चितवैं, सुत आहि भलैं॥

शिशुओंकी शृङ्गध्वनि, वंशीरव, करतलवाद्यसे गोवर्धन-परिसर निनादित हो उठता है। वन्य पशुविहंगम चञ्चल होकर नन्दनन्दनके दर्शनके लिये उस दिशामें ही दौड़ पड़ते हैं। उन्हें रंचकमात्र भी भय नहीं होता, अपितु श्रीकृष्णसखाओंका यह शृङ्गनाद उन्हें प्रतिदिन ही नये उल्लाससे भर देता है। वे इनकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। अस्तु, आज भी उनके आनन्दका पार नहीं है। वे देख रहे हैं श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर, उनके सखाओंकी ओर। तथा श्रीकृष्णचन्द्र एवं उनके सखा इनकी ओर निहारकर प्रफुल्लित हुए आगे बढ़ते जा रहे हैं और अब आ गया है क्रीड़ाके उपयुक्त स्थल। फिर तो उद्दाम कौतुक आरम्भ होनेमें विलम्ब क्यों हो।—

पहुँचे बन सुखधाम, संग सखा अभिराम।
अमित खेल तहँ खेलि, बछरनि बछरनि मेलि॥

आज संयोग ऐसा है कि ठीक नीचे तो श्रीकृष्णचन्द्र एवं शिशुओंके संरक्षणमें असंख्य गोवत्सराशि एकत्र हो गयी है, तथा ऊपर गोवर्धनके वक्षो देशमें, पर्वतके बहुत ऊपरी समतल तृणपूर्ण भूभागपर वृद्धवयस्क गोपोंसे परिचालित समूह-की-समूह गायें विचरण कर रही हैं। गायें तो बहुत पूर्व आ चुकी थीं, पर गोवत्स आये हैं अभी-अभी कुछ क्षणों पहले; किंतु इनके आते ही एक विचित्र-सी बात हो गयी। धेनुपालकोंने देखा—'सहसा गौएँ अतिशय चञ्चल हो उठीं, उनकी दृष्टि केन्द्रित हो गयी है नीचे गिरिराजके तटदेशमें एकत्र हुई गोवत्सराशिकी ओर। इनमें और उनमें व्यवधान भी कम नहीं है। गोवत्स इनसे बहुत दूर हैं—सर्वथा पर्वतके चरणतलके क्षेत्रमें। फिर भी ये जैसे उन्मत्त-सी हो गयी हैं, गोशावकोंको देखकर स्नेहवश सुध-बुध खो बैठी हैं। इतना ही नहीं, यह लो! यह दौड़ीं उनकी ओर।' बस, फिर तो पालकवर्गने भी अतिशय त्वरासे अपने लगुड ऊपर कर लिये; जो जहाँ था, वहींसे वह गरज उठा, प्रतिरोधके लिये प्रस्तुत होकर पूर्ण वेगसे दौड़ा। पर कहीं वेगसे झरते प्रपातकी अजस्र धारा भी लघु प्रस्तरखण्डोंके प्रतिरोधसे प्रतिरुद्ध हुई है? वह तो बह ही चलती है। ऐसे ही धेनुसमूहने भी आज अपने पालकवर्गका अतिक्रमण कर लिया। सम्पूर्ण शक्तिका प्रयोग करके भी कुशल रक्षक गोप गायोंको रोकनेमें समर्थ न हो सके। और तो क्या, दुर्गम पथ—सघन लताजालसे आवृत, कण्टकपूर्ण, स्थान-स्थानपर पाषाणखण्डोंसे रुद्ध वह पर्वतमार्ग भी उन्हें प्रतिहत न कर सका। वे गायें सबका उल्लङ्घन कर भाग चलीं। उनके आगेके दो पैर परस्पर संयोजित-से हो गये हैं; ठीक ऐसे ही पिछले दोनों पैर भी जुड़-से गये हैं; वेगसे दौड़नेके कारण ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो वे द्विपाद—दो पैरके जन्तु हों। इस समय उनका मुख भी ऊपरकी ओर उठ गया है, पूँछ भी ऊपरकी ओर तन गयी है—सब-की-सब ऊर्ध्वमुख, ऊर्ध्वपुच्छ हो गयी हैं। सबकी ग्रीवा ककुद्से संलग्न हो रही है। वात्सल्य उच्छलित होकर सबके थनोंसे दूधके रूपमें झरता जा रहा है और वे हुंकार करती हुई अत्यन्त द्रुतगतिसे दौड़ी जा रही हैं अपने वत्सतरोंकी ओर—

ततो विदूराच्चरतो गावो वत्सानुपव्रजम्।
गोवर्धनाद्रिशिरसि चरन्त्यो ददृशुस्तृणम्॥

दृष्ट्वान्यत तत्स्नेहवशोऽस्मृतात्मा
स गोव्रजोऽत्यात्मपदुर्गमार्गः।
द्विपात् ककुदग्रीव उदास्यपुच्छो-
ऽगाद्धुङ्कृतैरास्नुपया जवेन॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। २९-३०)

इक दिन गिरि गोबरधन गाइ।
चरति हीं चढ़ी आपने चाइ॥
ब्रज समीप बछरन अवहेरि।
चलीं जु ग्वारन सके नहिं फेरि॥
स्वच्छ पुच्छ ऊँची करि लई।
मानहुँ तुरत चँवर छवि छई॥
अति गति पग डारनि हुंकारनि।
सींचति धरनि दूध की धारनि॥
बगरे बछरन पै चलि आईं।
मिलीं आइ, कछु नहिं कहि जाईं॥
× × ×
अति सनेह बस तन मन जासू।
भूलि गई सब सुधि-बुधि आसू॥
अतिसै बेग तहाँ तें धाई।
तुरित सबै बछरन ढिग आई॥
रोकन लगे गोप बहु भाँती।
एक एक बल बिपुल सुहाती॥
अतिसै दुर्गम पथ बन घोरा।
सिला बिपुल द्रुम सघन कठोरा॥
गन्यौ न तोहि, तहाँ तें दौरी।
मनहुँ बात बस ह्वै गइ बौरी॥
मात भंग भए गोप सब, रुकी न कैसेंहु गाइ।
धाई जिमि मृगराज गति, निज तन कहुँ बिसराइ॥
× × ×
श्रवन पुच्छ उन्नत करैं, स्रवत दुग्ध करि प्रीति।
हरे भरे तृन बदन में, धाई नृप इहि रीति॥

देखते-देखते गायें पर्वतसे नीचे उतर आयीं, गोवत्सोंके समीप जा पहुँचीं। सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि इन गायोंके स्तनपायी दूसरे वत्स हो चुके हैं; कई तो, बस, दो-चार दिन पूर्वकी ही ब्यायी हुई हैं; कितनोंके वत्स भी अपनी जननीका अनुसरण करते हुए कूदते, उछलते वनमें साथ-साथ आये हैं और वे इस समय आभीर रक्षकोंद्वारा वहीं—शिखरपर ही रुद्ध होकर उत्कर्ण हुए आकुलताभरी आँखोंसे इनकी ओर देख भी रहे हैं। पर उनकी ममता भी मानो इन गायोंमें सर्वथा नहीं रही हो, इस प्रकार उन्हें परित्यागकर ये यहाँ, अपने पूर्वप्रसूत मुक्तस्तन्य वत्सतरोंके समीप आ पहुँचीं। रक्षकवर्गका लगुड-प्रहार, मार्गकी भयानकता, अपने नवजात शावकका स्नेहनिबन्धन—कोई भी इन्हें रोक न सका। सब कुछ सहकर, सबकी उपेक्षा कर ये यहाँ चली ही आयीं। इसे कहते हैं श्रीकृष्णचन्द्रका आकर्षण! सचमुच जब किसीका मन श्रीकृष्णचन्द्रसे मिलनेके लिये व्याकुल हो उठता है, उस समय उसकी ऐसी ही दशा होती है। उसके लिये कोई प्रतिबन्धक नहीं। स्वजनोंका विरोध उसके कर्णरन्ध्रमें प्रविष्ट नहीं होता। किसीके भीषण प्रहारकी व्यथा उसे स्पर्श नहीं करती। पथकी भीषणता उसके ध्यानमें ही नहीं आती। पुत्र-कलत्र, बन्धु-बान्धवका ममत्व उसके मनमें उदय ही नहीं होता। उसे दीखते रहते हैं एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्र और वह अम्लान मनसे, प्रतिक्षण वर्द्धनशील उत्साहपूरित चित्तसे सब कुछ सहता हुआ, समस्त विघ्न-बाधाओंको पैरोंसे रौंदता हुआ, अन्य सब ओरसे मुँह फेरकर, सबको भूलकर अत्यन्त तीव्र गतिसे दौड़ पड़ता है उनकी ओर, अविराम भागता चला जाता है उनको ही लक्ष्य बनाकर; उनके कण्ठसे लगकर ही शान्त होता है। इसीलिये गायें भी चली आयीं इन वत्सरूपधारी श्रीकृष्णचन्द्रके समीप। तथा आकर, अपने वत्सतरोंसे मिलकर जो इनकी दशा होती है, उसे वाणी कैसे व्यक्त करे। किसी अंशमें इतना-सा संकेतमात्र कर सकती है—वे गायें स्नेहातिरेकवश जीभ निकालकर इनके अङ्गोंको ऐसे चाटने लगती हैं, मानो उठाकर अपने हृदयमें रख लेना चाहती हों। थनसे दूधकी निर्मल धारा तो कबकी क्षरित होती आ रही है। केवल वत्सतरोंके मिलनेभरकी देर थी। ये मिल गये। फिर तो अपना समस्त रसपान करा देनेके उद्देश्यसे ये अपने स्तन इन वत्सोंके मुखमें रख ही देती हैं। गोवत्स भी हुमक-हुमककर दूध पीने लग जाते हैं। कदाचित् किसीके नेत्र इन बड़भागिनी

गायोंकी आँखोंमें समाकर देख सकनेकी क्षमता पा लें, तभी दीख सकता है—कितना अपूर्व, अप्रतिम स्नेह भरा है इन मूक पशुओंके नयनोंमें—

समेत्य गावोऽधो वत्सान् वत्सवत्योऽप्यपाययन्:
गिलन्त्य इव चाङ्गानि लिहन्त्य: स्नौधसं पय:॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ३१)

धेनु धाइ बछरन ढिग आईं।
प्यावन लगी प्रेम अधिकाईं॥
बत्सवती अपि धेनु प्रबीने।
प्यावत भइ तजि बाल नवीने॥
चाटन लगी प्रेम अति गाढ़ी।
गिलि जैहैं जनु, अस सुख बाढ़ी॥

अस्तु, उधर अपने प्रयास व्यर्थ हुए देखकर रक्षक गोपोंके रोषका पार नहीं। इतनी प्रबल चेष्टा करनेपर भी गायें न रुकीं, सारा परिश्रम निरर्थक सिद्ध हुआ—इस बातसे प्रथम तो वे अतिशय लज्जाका अनुभव करने लगे और फिर उनमें क्रोधका संचार हो गया। गायोंपर नहीं, गोवत्सोंके संरक्षक अपनी ही संतति उन गोपशिशुओंपर। वे सोचने लगे—'पशु तो पशु ही हैं, इनमें बुद्धि नहीं। वास्तविक अपराधी तो ये शिशु हैं। सचमुच नन्दनन्दन एवं बलरामका अनुसरण करते-करते ये सब अतिशय उद्धत हो गये हैं। देखो न, इतना तुमुल कोलाहल कर इन सबोंने जान-बूझकर गायोंको बिझुकाया है।' तथा ऐसा सोचकर क्रोधसे अभिभूत हुए वे गोपगण भी बालकोंको कुछ दण्ड देनेके उद्देश्यसे नीचे उतरने लगे। उस दुर्गम पर्वतपथको पार करते समय उन्हें अत्यन्त कष्ट हो रहा है; फिर भी तीव्र क्रोधके आवेशमें—चाहे कुछ हो, वहाँ जाकर शिशुओंका शासन करना ही है—इस आवेशमें पूरे वेगसे चलकर वे गिरिराजके तटदेशमें उतर पड़ते हैं।

कौन बताये—पहले उनकी दृष्टि गोसमूहपर पड़ी या बालकोंपर? गायें तो तन्मय हो रही हैं वत्सतरोंको अपना स्नेहदान देनेमें। उनके लिये रक्षकवर्गके रोषकषायित नेत्रका कोई अर्थ नहीं। किंतु जब इनकी दृष्टि बालकोंपर पड़ी, तब एक बार तो वे सब-के-सब बालक 'सन्न' रह गये! अवश्य ही स्थिति बदलते देर न लगी। निमेष गिरते-न-गिरते रक्षक गोपोंकी दशा भी विचित्र ही हो गयी। वे आये तो थे शिशुओंकी भर्त्सना करने, उन्हें दण्ड देने और हुआ यह कि वात्सल्यके प्रबल प्रवाहमें सहसा सब-के-सब एक साथ बह चले। उनकी समस्त चित्तवृत्ति इसमें निमग्न हो गयी। क्या हुआ, कैसे हुआ—यह किसीने नहीं जाना। बस, उन्होंने शिशुओंकी ओर देखा ही था कि एक झोंका-सा आया, तड़ित्-लहरी-सी छू गयी और उच्छलित हो उठा स्नेहरससिन्धु। मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय, शरीर—सब डूब गये इसमें। क्रोधकी वृत्ति समा गयी इसके अतलतलमें। ऊपर उठीं अनुरागकी लहरें। इनके साथ ही नाचते हुए उनके प्राण दौड़े पुत्रोंको अङ्कमें भर लेनेके लिये! लगुड हाथसे गिर गया, भुजाएँ फैल गयीं। मानो सहस्र-सहस्र प्राणोंकी आर्ति, उत्कण्ठा प्रत्येक गोपमें एकत्र हो गयी हो—ऐसे उल्लाससे उन सबने अपने-अपने पुत्रोंको उठाकर अङ्कमें धारण कर लिया, वक्ष:स्थलसे लगाया और फिर मस्तकका घ्राण लेने लगे। वे इस समय पुत्रोंके स्पर्शसे, घ्राणसे जिस परम आनन्दका अनुभव कर रहे हैं, इसे वे ही जानते हैं—

गोपास्तद्रोधनायासमौढ्यलज्जोरुमन्युना ।
दुर्गाध्वकृच्छ्रतोऽभ्येत्य गोवत्सैर्ददृशु: सुतान्॥
तदीक्षणोत्प्रेमरसाप्लुताशया
जातानुरागा गतमन्यवोऽर्भकान् ।
उदुह्य दोर्भि: परिरभ्य मूर्धनि
घ्राणैरवापु: परमां मुदं ते॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ३२-३३)

पसु-पालन रोकी जब धेनू।
रुकी न बैमुख श्रम भा फेनू॥
रोस भरे दृग अति रतनारे।
पंथ त्यागि धाए अति हारे॥
सरिता गिरि बन उपबन माहीं।
आए दौरत तन सुधि नाहीं॥
आए जद्यपि रोस भर, ताड़न मन अनुरागि।
तदपि देखि बालक बदन, बढ़्यौ प्रेम बड़भागि॥
जद्यपि रिस अति घोर,
निरखि बदन सब मिटि गई।

प्रेम उमग नहिं थोर,
रहसि लिए उर लाइ सुत॥
सीस सूँघि पुनि पुनि उर लाई।
मानहुँ परी परम निधि पाई॥

लीलाशक्तिकी प्रेरणा ही इन्हें पुनः यहाँसे अलग करती है, अन्यथा आज ये अपने पुत्रोंको छोड़कर किसी अन्य कार्यमें योगदान कर सकें—यह सम्भव ही नहीं रहा था। अभी भी बालकोंको हृदयसे लगाये, निर्निमेष नयनोंसे इनकी ओर वे देख ही रहे हैं। आगे क्या करना है, कहाँ जाना है—इसका उन्हें तनिक भी भान नहीं। कुछ क्षणोंके अनन्तर अचिन्त्य प्रेरणावश उन सबने पुत्रोंको गोदसे उतारा भी सही; पर सुध-बुध खोये-से, भ्रान्त-से हुए वे वहीं खड़े रहे। गायोंकी दशा भी ऐसी ही है। उन्हें भी किसी अलक्षित हाथोंने ही वत्सतरोंसे अलग किया। आँखें तो उनकी भी लगी रहीं अपने शावकोंकी ओर ही। पर शरीरसे वे हट आयीं। पालकवर्गने इनकी ओर देखा या नहीं—यह निर्णय कठिन है। हाँ, यन्त्रपरिचालित-से हुए उनके हाथ अपने-आप ऊपर उठ अवश्य गये हैं, संकेत कर दे रहे हैं गायोंको पुनः गिरिराज-शिखरकी ओर बढ़ चलनेके लिये और ये उधर ही चलने लग जाती हैं। इनके पीछे गोप भी चल पड़ते हैं—इच्छापूर्वक नहीं, जैसे कोई बरबस खींचे लिये जा रहा हो, इस प्रकार वे जा रहे हैं। वे कुछ भी बोल नहीं सकते—कण्ठ अश्रुके आवेगसे रुद्ध हो चुका है और अब तो उन्हें पथ दीखना भी बंद हो गया है—इस अननुभूतपूर्व परमानन्दकी निरन्तर स्मृतिसे नेत्र झरने लगे हैं, अश्रुका अजस्र प्रवाह बहने लगा है। अत्यन्त कठिनाईसे धीरे-धीरे मार्गका अनुसरण करते हुए वे वहाँसे लौट पड़े हैं—केवल देहसे ही, मन तो अभी भी वहाँ ही है। निमेषशून्य दृष्टिसे मानो वे अब भी ठीक वैसे ही देख रहे हैं उन शिशुओंको ही! —

ततः प्रवयसो गोपास्तोकाश्लेषसुनिर्वृताः।
कृच्छ्राच्छनैरपगतास्तदनुस्मृत्युदश्रवः॥
(श्रीमद्भा १०। १३। ३४)

गदगद कंठ नयन भरि बारी।
एकटक रहे सुबदन निहारी॥

उपर्युक्त घटनाको आदिसे अन्ततक बलरामने अपनी आँखों देखा है। यहाँसे कुछ ही दूरपर एक सघन कदम्बकी छायामें श्रीकृष्णचन्द्रके दक्षिण स्कन्धपर अपनी बाम भुजा टेके खड़े वे देख चुके हैं—'किस प्रकार गायें गिरिराज-शिखरसे दौड़ीं, गोपोंके द्वारा प्रतिरोधके समस्त प्रयास असफल हुए और स्तनपायी वत्सोंका भी परित्याग कर दुर्गम पथका उल्लङ्घन कर वे अपने उन मुक्तस्तन्य वत्सतरोंसे आ मिलीं; कितना स्नेह, प्राणोंकी कैसी आर्ति इन पशुओंमें इन वत्सोंके लिये है। प्रेमसमृद्धि एवं तदनुरूप उत्कण्ठाका कितना उज्ज्वल निदर्शन इन धेनुसमूहोंने अभी-अभी उपस्थित किया है। तथा फिर उन रक्षक गोपोंकी दशा! प्रथम तो अपनी संततिके व्यवहारसे क्षोभ, वह क्रोधकम्पित कलेवर और पश्चात् पुत्रोंकी ओर देखनेमात्रसे ही प्रेमावेशका वह निखरा हुआ सौन्दर्य—दोनोंका सामञ्जस्य कितना आश्चर्यमय है!' रोहिणीनन्दन बड़े ध्यानसे यह सब कुछ देखते रहे हैं। पर 'ऐसा क्यों हुआ, क्यों हो रहा है'—इसका हेतु उन्हें विदित नहीं। इसीलिये वे विचारमें पड़ जाते हैं, वस्तुस्थितिके सम्बन्धमें सोचने लग जाते हैं—

व्रजस्य रामः प्रेमर्द्धीरीक्ष्यौत्कण्ठ्यमनुक्षणम्।
मुक्तस्तनेष्वपत्येष्वप्यहेतुविदचिन्तयत्॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। ३५)

यह देखि बल सोइ, मन अचरज भोइ।

× × ×

सो दिन बल के भयौ संदेह, सिसुन बिषै दिखि ब्रज को नेह।

× × ×

लखि बल प्रेम अधिक सब काही।
करत बिचार आपु चित माही॥

एक-एक बात रोहिणीनन्दनको विस्मयसे पूर्ण कर दे रही है। साथ ही बाल्यावेशके किसी एक छिद्रसे अनन्तदेवके अपरिसीम ऐश्वर्यका एक क्षुद्र स्रोत शनैः-शनैः झरने लगता है और वे उसके एक बिन्दुका स्पर्श-सा करते हुए, उससे अपनी लीलारसमत्त आँखोंको आँजते-से हुए घटनाके प्रत्येक अंशके

हेतुपर विचार करने लगते हैं—'अखिलात्मा श्रीकृष्णचन्द्रके इतने निकट रहनेपर भी ऐसी बात क्यों हो रही है? समस्त व्रजवासी गो-गोप-गोपियोंके जीवनस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रके उपस्थित रहते हुए ही धेनुसमूहका इन अपने गोवत्सोंमें, रक्षक गोपोंका अपनी संततिमें, स्नेह बढ़नेका हेतु क्या है? इनका जैसा प्रतिक्षण वर्द्धनशील, अपरिसीम स्नेह श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति है, ठीक वैसा ही स्नेह वत्सतरोंके प्रति, शिशुओंके प्रति कैसे हो गया? ऐसी बात पहले तो कभी नहीं हुई थी? जहाँ आत्मज्ञानका आलोक नहीं, वहाँ उस अन्तःकरणमें तो अज्ञात आत्माके सुखके उद्देश्यसे ही पुत्र आदिके प्रति प्यारका प्रवाह सम्भव है; किंतु जहाँ जिन नेत्रोंके सामने अखिलात्मा विशुद्ध सत्त्वविग्रह श्रीकृष्णचन्द्र विराजित हैं, निरन्तर अत्यन्त निकट अवस्थित रहकर चिन्मय लीलारससुधाका दान कर रहे हैं, वहाँ अन्यके प्रति आकर्षण—अपनी संततिके प्रति स्नेह कैसे सम्भव हुआ? त्रिगुणमय संसारमें सुखके आधार स्थिर नहीं, उनमें परिवर्तन होना अनिवार्य है, स्नेहके पात्र बदलेंगे ही। आज सुखका आधार कुछ और है, कल कुछ और ही रहेगा; आज जिसके प्रति प्राणोंका स्नेह समर्पित करके भी तृप्ति नहीं होती, कल उसका स्थान कोई अन्य ग्रहण करेगा; किंतु जिसने एक बार श्रीकृष्णचन्द्रमें सुखका अनुभव किया, अपना सारा स्नेह श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चरणोंमें अर्पित कर दिया, उसके लिये अनन्तकालतक सुखका कोई अन्य आधार सम्भव ही नहीं, उसका स्नेहास्पद अन्य बन सकता ही नहीं। फिर भी यहाँ यह वैषम्य कैसे संघटित हुआ? एक बार श्रीकृष्णचन्द्रके लिये सर्वस्व न्योछावर कर देनेके अनन्तर भी पुनः गो-गोपोंका अपने वत्सतरोंके प्रति, शिशुओंके प्रति यह स्नेह-निर्बन्ध कैसे सम्भव हुआ? और इनकी बात दूर, स्वयं मेरी भी ऐसी दशा क्यों हो गयी? मुझे भी ये शिशु, ये गोवत्स ठीक अपने अनुजके समान ही क्यों प्रिय लग रहे हैं? इस आश्चर्यकी भी कोई सीमा है? आखिर ये बातें हो कैसे रही हैं? किस अघटनघटनी महाशक्तिके प्रभावसे गायोंकी, गोपोंकी, मेरी ऐसी अवस्था हो रही है? किस हेतुसे, कहाँसे इस महाशक्तिका अवतरण हुआ है? क्या यह कोई देवमाया है? अथवा शक्तिविशिष्ट नरकी—किसी मनीषी मुनिकी माया है? अथवा यह आसुरी मायाका प्रसार तो नहीं है? किंतु आसुरी नारी, दैवी माया—इनमें कोई-सी मुझे भी मोह सकती है क्या? विश्वमें ऐसी कौन-सी माया है, जो मुझे भी मोहित कर ले! हाँ, एकमात्र मेरे अनुज—नहीं-नहीं, मेरे प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रकी ही अघटनघटनी, परमाचिन्त्यशक्तिमयी माया ऐसी है, जो मुझे भी मुग्ध कर दे! उनकी ही माया फैली हो और ये बातें संघटित हो गयी हों—यह असम्भव नहीं है।'

रोहिणीनन्दन लवमात्र काल भी व्यतीत होते-न-होते इतनी बात सोच गये; और केवल सोच भर लिया हो, यह नहीं; इस रहस्यकी ओर-छोर पा लेनेका संकल्प भी उनमें उदय हो गया। अबतक तो वे विचार कर रहे थे लीलानुरूप भङ्गिमाकी चादर ओढ़कर ही; किंतु अब उन्होंने अपनी ज्ञानमयी दृष्टिके आलोकमें देखना आरम्भ किया और देख लिया—स्वयं श्रीकृष्णचन्द्र ही तो इन असंख्य गोवत्स एवं गोपशिशुओंके रूपमें अवस्थित हैं!—

किमेतदद्भुतमिव वासुदेवेऽखिलात्मनि।
व्रजस्य सात्मनस्तोकेष्वपूर्वं प्रेम वर्धते॥
केयं वा कुत आयाता दैवी वा नार्युतासुरी।
प्रायो मायास्तु मे भर्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी॥
इति संचिन्त्य दाशार्हो वत्सान् सवयसानपि।
सर्वानाचष्ट वैकुण्ठं चक्षुषा वयुनेन सः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ३६—३८)

पियत न अस्तन बालक जेऊ।
तिन पर अधिक प्रीति कत भेऊ॥
निकट प्रसूति बत्स कहँ त्यागी।
पूरब महँ किमि ए अनुरागी॥
नित प्रति बढ़ै प्रेम सब काहू।
लखौं न कारन प्रीति-उमाहू॥
मोहि सहित सब कहँ एहि रीती।
प्रेम अधिक छन-छन किमि प्रीती॥
मोहि प्रीति इन में केहि हेतू।
समुझि परै नहिं मोह निकेतू॥
कै दैवी माया यह होई।
कै नर असुर कहावति सोई॥

केहि कारन प्रेरी किन कैसें।
अपर न घटै भई यह जैसें॥
अपर न माया प्रबल असि, मो कहँ मोह कराइ।
यह माया श्रीकृष्ण की, अस मो मन ठहराइ॥
अस बिचारि बलराम ग्यान दृष्टि देखी तबहिं।
कृष्नदेव सब ठाम बछरा बत्सप आपु हरि॥

× × ×

बलबीर ग्यान-दृग देखि तहाँ।
प्रभु आतम भूति बिभूति महाँ॥
सब बिस्व चराचर ब्यापि रहौ।
बछरानि सखा किमि जाइ कहौ॥

× × ×

ये ब्रज बालक वे तौ नहीं।
पाछे हुते जु या ब्रज माहीं॥
अब तौ नाम दाम दल अंबर।
बेनु, बिषान बेत बल कंबर॥
कंकन किंकिनि भूषन जिते।
मोहि श्रीकृष्न अभासत तिते॥

बलरामके अधरोंपर स्मितकी एक रेखा अङ्कित हो गयी। उन्होंने अपने अनुजके नेत्रसरोजपर अपनी दृष्टि स्थिर कर ली तथा फिर एक साथ आदर्श विनय, अकृत्रिम नम्रता, मधुमय व्यङ्ग, सरस परिहास, अपरिसीम स्नेह, महान् आदर, पवित्र प्रणयरोष—न जाने कितने भावोंका रस वाणीमें भरकर वे बोल उठे—'भैया रे श्रीकृष्ण! नहीं, नहीं; हे सर्वेश्वर देवता! सुनो, देखो; गोवत्स, गोपशिशुओंके रूपमें पार्षद नहीं, ऋषि नहीं, एकमात्र तुमने ही इस असंख्य रूपोंमें आत्मप्रकाश किया है। यहाँ दीख रहे हैं वत्स, शिशु एवं उनसे सम्बन्धित अनन्त पदार्थ; किंतु वास्तवमें तुम्हारे अतिरिक्त यहाँ अन्य कोई नहीं, कुछ भी नहीं। केवल तुम्हीं इन असंख्य रूपोंमें मूर्त हो रहे हो। बता दो, भैया! हे महामहेश्वर! बता दो प्रभो! इन परिदृश्यमान गोशावक, गोपबालक, शृङ्ग, वेत्र, छीके आदि अनन्त रूपोंमें आखिर तुमने आत्मप्रकाश किस उद्देश्यसे किया है? विस्तारसे नहीं, संक्षेपमें ही सुना दो। भैया!'—रोहिणीनन्दनने शीघ्र उत्तर पानेकी प्रतीक्षा-सी व्यक्त करते हुए अतिशय धीर कण्ठसे इतनी बात कह दी। तथा जब दाऊ भैयाने पूछ ही लिया, तब नीलसुन्दर भी अब उनसे गुप्त क्यों रखें? समस्त विवरण उन्होंने अग्रजको विस्तारसे सुना दिया—

नैते सुरेशा ऋषयो न चैते
त्वमेव भासीश भिदाश्रयेऽपि।
सर्वं पृथक्त्वं निगमात् कथं वदे-
त्युक्तेन वृत्तं प्रभुणा बलोऽवैत्॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। ३९)

तुम अब सकल माहिं मोहि भासत।
तव गति अगम बेद इमि भाषत॥
मोहि बुद्धि भ्रम, कै यह साची।
सब महँ तुम ऐसी मति राची॥
तब हरि कंज सुअन कृत भाखे।
बल सौं कछु दुराव नहि राखे॥

× × ×

जब हँसि हलधर हरि तन चाही।
हरि तब सब हलधर सौं कही॥

इस प्रकार बलरामके समक्ष श्रीकृष्णचन्द्रके आत्म-विहारका रहस्य प्रकट हुआ और अब आ रहे हैं पद्मयोनि अपनी कृतिका परिणाम जानने, श्रीकृष्णचन्द्रपर अपनी मायाका प्रभाव देखने, मोहित हुए श्रीकृष्णचन्द्रकी बाल्यमाधुरीका रस लेने! भ्रान्त हुए हैं वे! अन्यथा श्रीकृष्णचन्द्रपर अपनी माया विस्तार करनेकी वृत्ति उनमें नहीं जागती। अरे, जिनकी माया संकर्षणको भी भ्रमित कर दे रही है, उनका विधिकी माया क्या करेगी।

संकरषन हू नहिं सुधि परै। बिधि बावरी जु पचि पचि मरै॥

ब्रह्माजीका अपने ही लोकमें पराभव और वहाँसे लौटकर श्रीकृष्णको वनमें पूर्ववत् उन्हीं गोपबालकों एवं गोवत्सोंके साथ, जिन्हें वे चुराकर ले गये थे, खेलते देखकर आश्चर्यचकित होना; फिर उनका सम्पूर्ण गोवत्सों एवं गोपबालकोंको दिव्य चतुर्भुजरूपमें देखना और मूर्च्छित होकर अपने वाहन हंसकी पीठपर लुढ़क पड़ना

यहाँका कालमान जगत्स्रष्टा चतुर्मुख ब्रह्माके लिये कोई महत्त्व नहीं रखता। सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि—इन चार युगोंकी एक चतुर्युगी* एवं ऐसी एक सहस्र चतुर्युगी जिनके एक दिनकी संध्या होनेतक समाप्त हो जाती है तथा पुनः एक सहस्र चतुर्युगी परिमित कालमानकी जिनकी रात्रि होती है—जिनके एक अहोरात्रमें मानवजगत्की दो सहस्र चतुर्युगी-जितने कालमानका अवसान हो जाता है, उनके लिये यहाँके दिन, मास, वर्ष क्या मूल्य रखते हैं। इसीलिये हंसवाहनको तो अपने कालमानसे केवल 'त्रुटि' मात्र† समय लगा और वे इतने कालमें ही—श्रीकृष्णचन्द्रके गोपसखाओंको—गोवत्सोंको स्थानान्तरित करनेके पश्चात्—सत्यलोकमें जाकर पुनः वृन्दाकाननके आकाशमें ही लौट आये। किंतु उनका यह 'त्रुटि' मात्र ही मानव-कालमानकी दृष्टिसे—यहाँके लिये एक वर्षकी अवधि बन गयी और इतने समयतक श्रीकृष्णचन्द्रका निर्बाध आत्मविहार होता रहा। आज वर्ष पूर्ण हो रहा है। ठीक आजसे एक वर्ष पूर्व इसी दिन श्रीकृष्णचन्द्रकी पुलिनभोजनलीला सम्पन्न हुई थी—शिशु एवं गोवत्स अपहृत हुए थे। उस दिन भी अग्रज बलराम अपने अनुजके साथ वत्सचारणके लिये वनमें नहीं गये थे और आजके दिन भी अचिन्त्यलीलामहाशक्तिकी प्रेरणासे अग्रजके जन्म-नक्षत्रका संयोग हो गया और वे घरपर ही शास्त्रोचित कृत्यके लिये रोक लिये गये। आज भी एकाकी श्रीकृष्णचन्द्र ही अपने स्वस्वरूप शिशुसखा एवं गोवत्सोंसे आवृत हुए वनमें पधारे हैं, सुदूर वनस्थलीमें आकर स्वच्छन्द विचरण कर रहे हैं। ठीक उसी रूपमें हंसवाहनको दर्शन भी होते हैं। पर यह दर्शन होनेसे पूर्व स्रष्टाने अपने लोकमें जाकर एक और भी विचित्र अनुभूति कर ली है तथा उसीसे अस्त-व्यस्त होकर दौड़ते हुए वे तत्क्षण लौट आये हैं।

घटना विचित्र-सी है। वत्स एवं शिशुओंको यथास्थान स्थापितकर पद्मयोनि ब्रह्मलोकमें अपने आवासके सिंहद्वारपर उपस्थित हुए। किंतु आज अभ्यर्थना तो दूर, अपितु रोषपूरित नेत्रोंसे द्वारीने द्वाररोध करते हुए परिचय जानना चाहा। हंसवाहन अत्यधिक आश्चर्यमें डूब गये, मानो स्वप्न देख रहे हों। विस्फारित नेत्रोंसे उन्होंने द्वारपालवर्गका समाधान करना चाहा, पर उत्तरमें मिली द्वारिकोंकी सगर्व उक्ति, जिसका सारांश यह था—'महाशय! आप कोई भी हों, सत्यलोकाधिपति हमारे स्वामी आप कदापि नहीं हैं। हमारे स्वामी अपने आसनपर विराजमान हैं। वेदाधिष्ठातृ देवगण उन्हें

* चार लाख बत्तीस हजार वर्षका कलियुग होता है। कलियुगसे दूना द्वापर, तिगुना त्रेता एवं चौगुना सत्ययुगका कालमान है। अर्थात् एक चतुर्युगी तैंतालीस लाख, बीस हजार वर्षकी होती है।

† एक दिनके अठारह करोड़, बाईस लाख, पचास हजार अंशके एक अंश-जितने परिमित कालको 'त्रुटि' कहते हैं।

आवृत किये हुए हैं। इस समय सनकादि एवं देवर्षि नारद आदि भी पधारे हैं तथा हमारे स्वामी उन्हें श्रीकृष्णकथाका पीयूष दान कर रहे हैं! पता नहीं, हमारे स्वामीकी आकृतिका अनुकरण करनेवाले आप कौन हैं? पद्मयोनिने स्पष्ट देख लिया—इन द्वारिकौंकी वाणीमें ओज है, पूर्ण विश्वास है, एक अजेय शक्ति इन्हें परिव्याप्त कर रही है, इन्हें अतिक्रमण करके अपने अन्तःपुरमें प्रविष्ट हो जाना दुस्साहसमात्र है। इसलिये उनका मानसंवर्धन करते हुए हंसवाहनने अपने-आपको सत्यलोकाधिपतिकी संनिधिमें पहुँचा देनेकी ही प्रार्थना की और द्वारीवर्गने भी उन्हें सभाप्राङ्गणमें उपस्थित कर दिया। पद्मयोनि अपनी आठों आँख फाड़कर देखने लगे—'सचमुच उन्हींके आसनपर एक चतुर्मुख ब्रह्मा विराजित हैं। अङ्गोंसे रक्तवर्ण ज्योति झर रही है। मानो कोटि-कोटि समुदित रविमण्डलका तेज सत्यलोकके कण-कणको उद्भासित कर दे रहा हो, ऐसी समुज्ज्वल आभा अधिपतिके रक्ताभ अङ्गोंसे प्रसरित हो रही है। साथ ही गूँज रहा है उनका उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वरमें वेदनाद!' हतप्रभ हुए पद्मयोनि स्तब्ध खड़े रह गये। कानोंमें द्वाररक्षकोंकी चर्चा सुन पड़ी, वे उनके सम्बन्धमें ही अपने स्वामीसे विनम्र निवेदन कर रहे थे। और फिर सुन पड़ा अधिपतिका मेघगम्भीर स्वरमें गूढ़ादेश—'द्वारपालो! मेरे अतिरिक्त ब्रह्मासनपर किसीका भी स्वतन्त्र अधिकार नहीं। इन्हें सत्यलोककी सीमासे बाहर कर दो।'—तथा देखते-ही-देखते वे अपने ही किंकरोंके द्वारा ब्रह्मलोकसे बाहरके देशमें अवस्थित कर दिये गये!

हंसवाहनका हृदय दुर्-दुर् करने लगा—इस पराभवजन्य क्षोभसे नहीं, अपितु अपने द्वारा आचरित श्रीकृष्णभक्तापराधकी स्मृतिसे। उन्हें यह भान होते देर न लगी कि उन्हींके आसनपर विराजित वे नवीन तेजोमय स्रष्टा कौन थे। अखिलब्रह्माण्डपति श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त यह सामर्थ्य और है ही किनमें? उन्हींके नित्यपार्षद भक्त गोपशिशु, गोवत्सोंको स्रष्टाने मोहितकर उनसे पृथक् किया तथा ऐसा करके वे फूले न समाये। फिर इस भक्तापराधके परिणामस्वरूप ब्रह्मासनका अधिकार छिन जाय तो क्या आश्चर्य है। हंसवाहनके अनुतापका पार नहीं। ब्रह्मपद चला गया, चला जाय। उसकी आवश्यकता भी नहीं। पर कहाँ श्रीकृष्णचन्द्रकी चरणनख-चन्द्रिकाका आलोक हृदयसे अन्तर्हित न हो जाय, श्रीकृष्णचरणस्मृतिकी अमूल्य निधि न छिन जाय—इस भयसे ही हंसवाहन उद्विग्न हो उठे तथा अविलम्ब वृन्दावनके आकाशमें ही उतर पड़े—

ब्रह्मापि स्वासनस्थेन चतुरास्येन शौरिणा।
मोहितैर्द्वारपालैश्च परिभूतो न्यवर्तत॥

अस्तु, अपने कालमानसे त्रुटिमात्रका ही व्यवधान हुआ है और पद्मयोनिने श्रीकृष्णचन्द्रको पुनः देखा। किंतु जो देखा तो अवाक् रह गये। वही, वैसे ही स्वच्छन्द क्रीड़ा चल रही है। कहीं किसी अंशमें भी परिवर्तन नहीं है। सम्पूर्ण लीलापार्षद गोपशिशु भी ज्यों-के-त्यों हैं, असंख्य गोवत्ससमुदाय भी वही-का-वही है। बाल्यलीलाविहारीकी भावभङ्गी भी वैसी-की-वैसी है। क्षणभरके लिये भी उनके इस विहारका विराम नहीं हुआ है, निर्दिष्ट क्रमसे सब कुछ पहलेकी भाँति ही निर्बाध चलता रहा है—

तावदेत्यात्मभूरात्ममानेन त्रुट्यनेहसा।
पुरोवदब्दं क्रीडन्तं ददृशे सकलं हरिम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ४०)

बीत्यौ बरष एक एहि रीती। कंजसुवनकी त्रुटि तब बीती॥

× × ×

बर्ष दिवस बीते बिधि आयौ।
निरखि बिनोद सु-बिस्मय पायौ॥
वैसेइ बच्छ स्वच्छ ब्रजबाल।
जमुन-कच्छ खेलत नँदलाल॥

× × ×

देखे ब्रह्मा सकल सखा हैं। देखे तैसे चरत बछा हैं॥

हंसवाहन सोचने लगे—'यह कैसे हुआ? क्या अनन्तैश्वर्यनिकेतन प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रने मेरे जाते ही मायामुग्ध सखाओंको, गोवत्सोंको अपने पास बुला लिया? नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं हुई है। वह देखो,

व्रजमें जितने गोपशिशु थे, गोवत्स थे, वे तो अभीतक मेरी मायासे मुग्ध हुए ज्यों-के-त्यों निद्रित हो रहे हैं, उनके मोहका अपगम हुआ ही नहीं है। वे उठे ही नहीं हैं। पर साथ ही, ओह! कितना आश्चर्य है, यहाँसे कुछ ही दूरपर उतने-के-उतने गोपशिशु, उतने ही गोवत्स—नहीं-नहीं, सर्वथा वे-के-वे, वैसे-के-वैसे श्रीकृष्णचन्द्रके साथ भी हैं, एक वर्षसे खेल रहे हैं। मेरी मायासे मुग्ध हुए बालकोंसे, वत्सतरोंसे ये भिन्न तो अवश्य हैं; क्योंकि पहलेवाले तो ज्यों-के-त्यों उसी अवस्थामें अभी भी अवस्थित हैं ही। फिर ये कौन हैं? कहाँसे आ गये?'

सोचते-सोचते पद्मयोनिकी विवेकशक्ति लुप्त होने लगती है। कभी तो वे दौड़कर मायानिद्रित शिशुओंके समीप जाते हैं और कभी आ जाते हैं कलिन्दनन्दिनीके तटपर उद्दाम कौतुकमें उन्मत्त-से हुए नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके समीप। किंतु दोनों स्थलोंमें सर्वथा ज्यों-की-त्यों उपस्थिति अनुभवकर उनके आश्चर्यकी सीमा नहीं रहती। किसी मायाके प्रभावसे वे भ्रमित हो रहे हों, इस आशङ्कासे उन्होंने युगपत् दृष्टि दौड़ायी। अपने ज्ञानके आलोकमें वे एक साथ एक समयमें ही दोनों स्थलोंका निरीक्षण करने लगे। पर कोई भी अन्तर न हुआ। दोनों स्थानोंमें ही वस्तुस्थिति ज्यों-की-त्यों बनी रही। आखिर इन दोनोंमें एक सत्य और एक तो मायिक सृजन होगा ही—इसका निर्णय करने वे चले। पर यहाँ भी नितान्त निराशा ही हाथ लगी। स्रष्टाका अभ्रान्त ज्ञान उनका साथ न दे सका। युञ्जान योगीकी भाँति अपनी प्रत्यक्ष अनुभूतिपर प्रत्यय स्थापित न कर वे समाधिमें स्थित होकर तथ्यका निर्णय करने लगे। पर वह इन्द्रियातीत आलोकपुञ्ज भी मानो किसी प्रगाढ़ तमके आवरणमें विलीन-सा हो चुका है। उनके नित्यज्ञानकी वह दीपशिखा—जिसकी ज्योतिमें वे पूर्वकल्पकी सूक्ष्मतम घटनावलीको भी देख लेते हैं—मानो निर्वापित-सी हो चुकी है और वे इस सम्बन्धमें कोई भी निर्णय न पा सके। न जाने कितनी देरतक वे प्रयास करते रहे, बाह्यज्ञान, समाधिज्ञान—सबका आश्रय लेकर श्रान्त हो गये, पर कुछ भी न जान सके। इन दोनोंमें कौन सत्य है, कौन मायासृष्ट है, कौन सच्चे श्रीकृष्णपार्षद हैं और कौन नहीं हैं—इस सम्बन्धमें उन्हें कोई प्रकाश न मिला। वे सर्वथा अक्षम सिद्ध हुए—

यावन्तो गोकुले बालाः सवत्साः सर्व एव हि।
मायाशये शयाना मे नाद्यापि पुनरुत्थिताः॥
इत एतेऽत्र कुत्रत्या मन्मायामोहितेतरे।
तावन्त एव तत्राब्दं क्रीडन्तो विष्णुना समम्॥
एवमेतेषु भेदेषु चिरं ध्यात्वा स आत्मभूः।
सत्याः के कतरे नेति ज्ञातुं नेष्टे कथञ्चन॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ४१—४३)

माया सबन करा३ सब, बाल बत्स मैं आव।
इहाँ तिन्ह सम अपर ए, बालक खेलत पाव॥
वे हैं सत्य, किधौं ए साचे।
इमि व्याकुल चित, संसय राचे॥
इत उत फिरै, लखै दोउ ठामा।
बाल बत्स सब सुख अभिरामा॥

× × ×

तैसेइ उत के, तैसेइ इत के।
कहत कि सत्य आहिं धौं कित के॥

पितामह चले थे महामहेश्वरको मोहित करने, अपनी मायाका विस्तार कर उसका परिणाम देखने, पर हो गये स्वयं भ्रान्त। चतुर्मुखने यह नहीं सोचा था कि 'जो उनसे (ब्रह्मासे) आरम्भ कर स्तम्बपर्यन्त—बृहत्तममें, कीटाणुओंमें अभिन्ननिमित्तोपादान कारणरूपसे परिव्याप्त हैं, सर्वाधिष्ठान हैं, सर्वान्तर्यामी हैं, उनपर भी किसीकी माया चल सकती है? जिन्हें मोह कभी स्पर्श नहीं कर सकता, जो नित्य विगतमोह हैं तथा जिनकी माया विश्वके समस्त चर-अचरको मोहित करती रहती है, उनपर मायाप्रसारका क्या परिणाम हो सकता है? सागरके जलकी कितनी गम्भीरता है, गगनमण्डलका परिमाण कितना है—इसकी थाह पानेके उद्देश्यसे सप्तवितस्ति (सात बित्ते) मानका एक काष्ठदण्ड, एक रज्जुखण्ड फेंकनेका प्रयास कितना हास्यास्पद है।

हंसवाहनकी चेष्टा ऐसी-सी हुई। वे भूल गये महामहिम श्रीकृष्णचन्द्रकी तुलनामें अपनी सीमित शक्तिको तथा सर्वमायाधीश्वरपर ही अपनी क्षुद्र मायाका प्रयोग कर बैठे। फिर जो होना चाहिये था, वही हुआ। उनकी माया उन्हें ही भ्रान्त करनेमें उपकरण बनी। जैसे नीहार (कुहरा)-जन्य अन्धकारकी घनता वृक्ष, लता, वल्लरियोंको तथा पशु, पक्षी, मानव, कीट, पतङ्ग, भृङ्गको आवृत कर सकती है, पर वह प्रगाढ़तमसाच्छन्न रजनीके अन्धकारका, अमानिशाके घोर अँधेरेका आवरण नहीं बन सकती, ऐसे प्रबलतर अँधेरेका संयोग होते ही वह अपनी आवरणशक्तिको उसीमें विलीन कर देनेके लिये बाध्य हो जाती है, स्वयं उससे आवृत हो जाती है; और जैसे खद्योतका क्षुद्र प्रकाश घोरतमसाच्छन्न रात्रिके समय किसी तरुवल्लरीके किसी पत्रांशको एक क्षणके लिये क्षीण चमकका दान भले कर सकता है, पर समुद्भासित मध्याह्न सूर्यके समक्ष उसकी सत्ता सर्वथा नगण्य बन ही जाती है; वैसे ही महान्‌के प्रति क्षुद्र व्यक्तिका क्षुद्र मायाप्रसार, अपने क्षुद्र वैभवका प्रकाश—दोनों ही निरर्थक सिद्ध होते हैं; अपितु प्रयोजकके लिये ही मोहका, कश्मलका सृजन करनेमें—उसके तेजका अपहरण करनेमें हेतु बन जाते हैं। हंसवाहनके लिये यह पूर्णतया चरितार्थ हुआ। महामहिमको अपनी मायासे मोहित करने जाकर वे स्वयं मोहित हो गये, उनपर अपने वैभवका प्रकाश करने जाकर स्वयं हतप्रभ हो गये—

एवं सम्मोहयन् विष्णुं विमोहं विश्वमोहनम्।
स्वयैव माययाजोऽपि स्वयमेव विमोहितः॥
तस्यां तमोवन्नैहारं खद्योतार्चिरिवाहनि।
महतीतरमायैश्यं निहन्त्यात्मनि युञ्जतः॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। ४४-४५)

बिधि भ्रम ते चुप ह्वै रह ठाढ़ा।
महा मोह हिय मैं तेहि बाढ़ा॥
अखिल बिस्व मोहन भगवाना।
तिन्हैं मोहिबे कौं मन आना॥
माया करी, बत्स हरि लीन्हा।
आपु मोह बस भा अति दीना॥
प्रभु माया कृत अंड अनेका।
रचना अमित एक तैं एका॥
रोम रोम प्रति अंड कटाहा।
तासु प्रभाव देखिबे चाहा॥
किमि मोहै मायापति नाथा।
अखिल बिस्व सब जेहि के हाथा॥
कोटि कोटि रबि सरिस प्रकासा।
कृष्नचंद मुख ससि दुति हासा॥
बिधि माया खद्योत समाना।
आपुहि लज्जित लह अपमाना॥
जैसैं निसि महँ तम अति भारी।
पुनि निहार अतिसैं अँधिआरी॥
दोउ तम मिलि एकै ह्वै गएऊ।
नहि निहार-बल भिन्न जु भएऊ॥
जिमि खद्योत सहस्र मिलि दिवस न भिन्न प्रकास।
तिमि हरिमाया के बिषै माया सकल निवास॥
तैसेंहि महत पुरुष कहँ कोई।
माया करै इतर जो होई॥
वह माया तेहि लगै न कबहू।
उलटी फलै करै जो सबहू॥

जो हो, इतनेसे ही हंसवाहनके आश्चर्यदर्शनकी इति हो गयी हो, यह बात नहीं है। अभी तो उन्हें बहुत कुछ देखना है और वे देखने लगते हैं। सहसा उनके आठों नेत्रोंमें एक दिव्यातिदिव्य तेजका उन्मेष हो जाता है और उस परम दिव्य आलोकमें उन्हें दीख पड़ता है—व्रजेन्द्रनन्दनके पार्श्ववर्ती ये समस्त गोवत्स, गोपशिशु नवनीलनीरदवर्ण, पीतपट्टाम्बरपरिशोभित, शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-करधारी, मणिमुकुटधारी, मणिकुण्डलमुक्ताहारशोभित, वनमाली, चतुर्भुजरूपमें परिणत हो गये हैं। उनमेंसे प्रत्येक मूर्तिके वक्षःस्थलमें श्रीवत्स, भुजाओंमें अङ्गद, हाथोंमें रत्नमय वलय एवं कङ्कण, चरणोंमें नूपुर एवं कड़े, कटिदेशमें करधनी, अङ्गुलियोंमें अङ्गुलीयक (अँगूठी) विराजित हैं। अतिशय भाग्यशाली भक्तोंके द्वारा समर्पित सुकोमल नवतुलसीकी मालाएँ नखसे शिखापर्यन्त समस्त अङ्गोंमें आभरण बनी हैं। चन्द्रज्योत्स्ना-सी मन्द मुसकान अधरोंपर नृत्य

कर रही है। अरुणिम नेत्रप्रान्तकी चितवनसे मधु झर रहा है। वे अरुणनयन मानो रजके प्रतीक हैं, भक्तोंके अन्तस्तलमें क्षण-क्षणमें नव-नव मनोरथ (सेवा-वासना)-का सृजन कर रहे हैं और वह उज्ज्वल हास्य मानो सत्त्वका प्रतीक है, जो अधरोंपर नाच-नाचकर भक्तोंके मनोरथका पालन कर रहा है। इतना ही नहीं, यह देखो! यहाँ अगणित—असंख्य ब्रह्मा उपस्थित हैं। ब्रह्मा ही नहीं, उनसे लेकर तृणपर्यन्त समस्त चराचर जीव अपने अधिष्ठातृ-देवतारूपमें मूर्तिमान् होकर उपस्थित हैं और नृत्य-गीतके सहित यथायोग्य विविध उपहार समर्पित करते हुए उन अनन्त चतुर्भुज मूर्तियोंकी उपासना कर रहे हैं। अणिमादि सिद्धियाँ, माया, विद्या आदि विविध शक्तियाँ, महत्तत्त्व आदि चौबीस तत्त्वोंके अधिष्ठातृ-देवता—सभी सेवाकी प्रतीक्षामें उन्हें घेरे खड़े हैं। प्रकृतिक्षोभमें हेतु काल, प्रकृतिपरिणाममें हेतु स्वभाव, वासनाका उद्बोधक संस्कार, काम, कर्म, गुण आदि—इन सबके अधिष्ठातृ-देवता प्रत्येक भगवद्रूपकी अर्चना कर रहे हैं। भगवत्-प्रभावके समक्ष उन देवोंकी सत्ता-महत्ता नगण्य बन चुकी है। ओह! ये अगणित भगवत्-स्वरूप! सब-के-सब त्रिकालाबाधित सत्य हैं, ज्ञानस्वरूप—स्वप्रकाश हैं, अनन्त—देशकालादिपरिच्छेदरहित हैं, आनन्दस्वरूप हैं, एकरस हैं। इनके अचिन्त्य-अनन्त माहात्म्यकी उपलब्धि आत्मज्ञानकी दृष्टि रखनेवाले पुरुषोंके लिये भी सम्भव नहीं—

तावत् सर्वे वत्सपाला: पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात्।
व्यदृश्यन्त घनश्यामा: पीतकौशेयवाससः॥
चतुर्भुजा: शङ्खचक्रगदाराजीवपाणयः।
किरीटिनः कुण्डलिनो हारिणो वनमालिनः॥
श्रीवत्साङ्गददोरत्नकम्बुकङ्कणपाणयः।
नूपुरैः कटकैर्भाता: कटिसूत्राङ्गुलीयकैः॥
आङ्घ्रिमस्तकमापूर्णास्तुलसीनवदामभिः।
कोमलैः सर्वगात्रेषु भूरिपुण्यवदर्पितैः॥
चन्द्रिकाविशदस्मेरैः सारुणापाङ्गवीक्षितैः।
स्वकार्थानामिव रजःसत्त्वाभ्यां स्रष्टृपालकाः॥
आत्मादिस्तम्बपर्यन्तैर्मूर्तिमद्भिश्चराचरैः।
नृत्यगीताद्यनेकार्हैः पृथक् पृथगुपासिताः॥
अणिमाद्यैर्महिमभिरजाद्याभिर्विभूतिभिः।
चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैः परीता महदादिभिः॥
कालस्वभावसंस्कारकामकर्मगुणादिभिः।
स्वमहिध्वस्तमहिभिर्मूर्तिमद्भिरुपासिताः॥
सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। ४६—५४)

पुनि जौ फिरि आवै इहि ठौर।
है रहि कछू और-की-और॥
बालक-बच्छ इहाँ हैं जिते।
बेनु, बिषान बेत्र दल तिते॥
मुक्तावलि गुंजावलि जुही।
नूपुर, किंकिनि, कंकन सुही॥
अंबर, कंबर, संबर जिते।
निरखे चारु चतुर्भुज तिते॥
घन-तन पीतबसन, बनमाल।
अरुन कमल-दल नैन बिसाल॥
कुंडल-मंडित गंड सुदेस।
मनिमय मुकुट सु घूँघर केस॥
कंबु-कंठ कौस्तुभ मनि धरें।
आयुध संख-चक्र कर करें॥
छबि उलसी तुलसी की माल।
बनि रहि पदपजंत बिसाल॥
बदन-बदन मुसकनि छबि लसी।
चंदन मध्य चंद्रिका जसी॥
भिन्न-भिन्न ब्रह्मांड बिराजै।
तिन मधि इक-इक मूरति भ्राजै॥
ब्रह्मा आदि चराचर जिते।
मूरति धरें उपासन तिते॥
अनिमा-महिमादिक सिधि जिती।
महदादिक बिभूति हैं तिती॥

काल-करम-गुन अवर न अंत।
सेवत हैं तहँ मूरतिवंत॥
× × ×
तेहि छन अपर अचंभौ भएऊ।
कंज-सुअन निज नयननि लहेऊ॥
जितने बत्सपाल अज देखा।
सपदि लखे अति रूप बिसेखा॥
तन घनस्याम चतुर्भुज रूपा।
पीत बसन कटि लसत अनूपा॥
गदा चक्रधर पंकजपानी।
सुभग किरीट सीस सुखदानी॥
कुंडल चपल, हार, बनमाला।
श्रीबत्सांक सुललित बिसाला॥
कंबु कंठ अंगद सुठि लोने।
कंकन पानि जटित मनि सोने॥
नूपुर-कटक ललित अति सोहन।
कटि किंकिनि त्रिभुवन मन मोहन॥
सुभग दसांगुलि भूषन नीके।
निरखत मन मोहत सबही के॥
नख सिख तुलसी दाम बर, ता करि सोभित गात।
पुन्य पुंज बहु जन्म कृत, तिन गूँथी बहु भाँति॥
कोमल पत्र बिमल कर आनी।
भूरि पुन्य कृत कोउ एक प्रानी॥
तिन अर्पित पहिरे सुठि सोहन।
एहि बिधि बिधि देखेउ मनमोहन॥
मृदु मुसुकानि चंद्रिका चारू।
अरुन कटाच्छ भरे सुख सारू॥
निज जन बांछा पुरवन हारू।
संभव पाल केर भंडारू॥
मनहुँ सत्त्व रज गुन ए दोऊ।
इत ए बसे अरुन सित सोऊ॥
ऐसे सुभ कटाच्छजुत नैना।
निरखत होत सबनि चित चैना॥
ब्रह्मादिक अग जग जे प्रानी।
धरें सुभग तनु अति हित मानी॥
लै लै अमित बस्तु बहु भाँती।
आए सब निज हृदय सुहाती॥
नृत्य गान अरु बाद्य अनेका।
पूजत प्रभुहि एक तें एका॥
अनिमादिक जे सिद्धि कहावैं।
अज सुरेस जे बिभव सुहावैं॥
अरु जे चौबिस तत्त्व समेता।
मूर्तिवंत सौभाग्य निकेता॥
सेवहिं प्रभु पद पंकज तेऊ।
ब्रह्मादिक बरने अस जेऊ॥
क्षोभक काल स्वभाव जे, परिनामक जे हेतु।
प्रभु-महिमा लखि चकित चित सेवहिं चरन निकेतु॥
सत्य ग्यानयुत, अमित, न अंता।
परिपूरन सब ठाम लसंता॥
परमानंद रूप ब्रजपासू।
श्रुति गावैं जस बिमल रसासू॥
महिमा बहुत लहै नहिं थाहू।
हस्तामल श्रुति हैं सब जाहू॥
तेउ प्रभु महिमा लहै न छोरा।
बिधि चकित चित भयौ न थोरा॥
× × ×
जिते बाल औ बच्छ, तिते सब बिष्नु रूप धृत।
मौलि मुकुट मनि जटित, श्रवन कुंडल मकराकृत॥
कौस्तुभ मनि उर माल, हास ईषद कहि कीन्हें।
चारि बाहु, कर चारि, चारि आयुध कहँ लीन्हें॥
भृगु चरन अंक अंकित महा, पीत बसन तड़िता बरन।
ब्रह्मादि देव अस्तुति करत, कर जोरें सेवत चरन॥

जिन परब्रह्मात्मक स्वयंभगवान् गोपेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी स्वप्रकाशशक्तिसे यह परिदृश्यमान सचराचर विश्व प्रकाशित होता है, उनके नित्यपार्षद—गोपशिशुओंको, गोवत्सोंको पद्मयोनि आज इस प्रकार उपर्युक्त रूपमें एक साथ एक समय देख रहे हैं—

एवं सकृद् ददर्शाजः परब्रह्मात्मनोऽखिलान्।
यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। ५५)

एकहिं बार अखिल सब देखा।
कृष्न रूप सब अपर न लेखा॥
जेहि प्रतिबिंब चराचर भासा।
सोइ प्रभु ब्रजपति नंद प्रकासा॥

किंतु अब इससे अधिक देखनेकी सामर्थ्य चतुर्मुखमें नहीं रहती। नेत्र इस चिन्मय चमत्कारसे सर्वथा पूर्ण हो उठे। कर्णरन्ध्रोंमें दिव्यातिदिव्य स्तवनका घोष भर गया। घ्राणेन्द्रिय अप्राकृत दिव्य सुवाससे पूरित हो गयी। समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ एक अभिनव आनन्दके पूरमें निमग्न हो गयीं। कर्मेन्द्रियाँ आनन्दातिरेकवश स्थिर हो गयीं। मन उस दर्शनसुखमें डूबकर अपनी सत्ता खो बैठा। स्रष्टाकी एकादश इन्द्रियाँ ही पहले तो इस आश्चर्यदर्शनसे ऐसी चञ्चल हुईं मानो प्रबल वेगसे इनमें अवस्थित सम्पूर्ण शक्तियोंका किसीने हिण्डन कर दिया हो; पर फिर तुरंत ही ऐसी, इतनी शान्त हो गयीं कि जैसे इनका सम्पूर्ण अस्तित्व ही सदाके लिये विलीन हो गया हो। जो हो, देखते-ही-देखते इन अनन्त चतुर्भुज मूर्तियोंके दुर्धर्ष तेजसे हंसवाहन निष्प्रभ, निर्वाक्, निष्पन्द हो उठे। ऐसा प्रतीत हुआ मानो अतिशय प्रीतिसे आराधित किसी ग्राम्यदेवीमूर्तिके समीप शिशुओंकी एक क्रीड़ापुत्तलिका— खेलकी गुड़िया रख दी गयी हो। ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सबके द्वारा सादर उपासित इन अनन्त चतुर्भुजमूर्तियोंके समक्ष पद्मयोनि सर्वथा उपेक्षित-से हुए— एक स्वर्णिम जड तुच्छ स्पन्दनहीन क्रीड़ापुत्तलिकाकी भाँति ही— अपने हंसके पृष्ठदेशपर ढुलक पड़े—

ततोऽतिकुतुकोद्वृत्तस्तिमितैकादशेन्द्रियः ।
तद्धाम्नाभूदजस्तूष्णीं पूर्देव्यन्तीव पुत्रिका॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। ५६)

अति आचरज देखि सब ठामा।
क्षुभित चित्त नहिं लह बिश्रामा॥
इंद्री गन मन बुद्धि समेता।
थकित रहीं गहि मौन अचेता॥
नयन मूँदि मुख आव न बैना।
खरी रहीं बिधि, नहिं चित चैना॥
जिमि ब्रज ग्राम देवता कोई।
तासु निकट कौतुक हित जोई॥
दारु पूतरी रचि मुख चारी।
खरी करी बिधि एहि अनुहारी॥

× × ×

सुधि गइ बिधिहि, अचेतन भयौ।
हंस की अंस पकरि रहि गयौ॥
तिहि छिन ताहि कबी छबि ऐसी।
चतुर्मुखी कोउ पुतरी जैसी॥

चेतना लौटनेपर ब्रह्माजीका अपने वाहनसे उतरकर श्रीकृष्णके पाद-पद्मोंपर लुट पड़ना और उनका स्तवन करने लगना

करुणावरुणालय व्रजराजकुमारका कोमल हृदय आर्द्र हो उठा हंसवाहनकी इस दयनीय दशाको देखकर। यह स्पष्ट था कि वेदज्ञानके आदिप्रवर्तक सर्वविद्यापति पितामह ब्रह्मामें अब तनिक भी सामर्थ्य नहीं रही थी कि वे श्रीकृष्णचन्द्रके असमोर्ध्व ऐश्वर्यका इससे अधिक किंचिन्मात्र अंश भी और देख सकें। उनके नेत्रोंके सामने जितना जो अंश व्यक्त था, वही इतना विलक्षण था कि वे भ्रमित हो चुके थे। तर्क उनका समाधान कर नहीं सकता था। श्रीकृष्णचन्द्र, श्रीकृष्णचन्द्रकी समस्त वस्तुएँ तर्कसे अतीत जो हैं। प्रपञ्चनिर्माताके हाथोंसे ही विश्वकी एक-से-एक अधिक विस्मयजनक वस्तुएँ सृष्ट हुई हैं। पर कभी एक भी ऐसी वस्तु निर्मित नहीं हुई, जिसका अवलम्बन कर वे श्रीकृष्णचन्द्रके अचिन्त्य स्वरूप, ऐश्वर्य, माधुर्यके सम्बन्धमें तर्क करते हुए अनुमान लगा लें। प्राकृत पदार्थ ही तर्कगोचर होते हैं, हो सकते हैं। पर नन्दनन्दन तो प्रकृतिसे परेकी वस्तु हैं। वे स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप हैं। उन्हें इन्द्रियाँ प्रकाशित ही कैसे कर सकती हैं। कृपापरवश हुए अपनी स्वप्रकाशिका शक्तिसे वे किसीकी बुद्धिमें उतर आयें, तभी उन्हें कोई भले जान ले। अस्तु, स्थूल नहीं, अणु नहीं, क्षुद्र नहीं, विशाल नहीं, घन नहीं, द्रव नहीं, छाया नहीं, तम नहीं, वायु नहीं, आकाश नहीं, सङ्ग नहीं, रस नहीं, गन्ध नहीं, नेत्र नहीं, कर्ण नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, तेज नहीं, प्राण नहीं, मुख नहीं, माप नहीं— इस प्रकार समस्त अपरमात्म वस्तु मायिक पदार्थोंका निषेध कर ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंके द्वारा जिनके सच्चिदानन्दस्वरूपका संकेत प्राप्त होता है, उन्हें ब्रह्माने उन्हींकी अपार कृपाके बलपर प्रत्यक्ष देखा, उनके अपरिसीम ऐश्वर्यसमन्वित रूपको देखा। फिर भी वे स्थिर, विकृतिशून्य रह सकें, यह सम्भव ही नहीं। वे मोहित हुए ही और ऐसे हुए कि क्या देख रहे हैं, यह प्रज्ञा खोकर उस दिव्यातिदिव्य झाँकीके दर्शनमें भी असमर्थ हो गये। वे आये थे व्रजेन्द्रनन्दनके किसी और लीला-वैभवको देखनेकी उत्कण्ठा लेकर तथा नन्दनन्दनने भी उनका मनोरथ पूर्ण हो जानेकी स्वीकृति दे दी। तुरंत ही योगमायाका प्रभाव व्यक्त हो गया और पितामह लगे देखने असाधारण अप्राकृत चमत्कार। किंतु कणिकामात्रके दर्शन होते-न-होते मोहित होकर वे सुध-बुध खो बैठे। परात्पर सर्वकारणकारण श्रीकृष्णचन्द्रने उनकी यह अवस्था भी देख ली। प्रभुके महामहैश्वर्य-दर्शनकी उनकी अयोग्यता छिपी न रह सकी। इसीलिये दृश्य-परिवर्तन अनिवार्य हो गया। कृपामय प्रभु द्रवित हो गये और तत्क्षण ही उन्होंने योगमायाकी यवनिका हटा दी—

इतीरिशेऽतर्क्ये निजमहिमनि स्वप्रमितिके
परब्रह्मजानोऽतन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ ।
अनीशेऽपि द्रष्टुं किमिदमिति वा मुह्यति सति
चछादाजो ज्ञात्वा सपदि परमोऽजाजवनिकाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ५७)

तब श्री हरि यह माया जिती। अंतरध्यान करी तहँ तिती॥

अब कहीं पद्मयोनिकी चेतना लौटी। जैसे मृत्युके उस पार पहुँचे हुए प्राणीमें पुनः नवजीवनका संचार हो जाय, इस प्रकार वे अपने इस मुग्ध, विवश, संज्ञाविहीन अवस्थासे जागे, बाह्यज्ञानकी वृत्ति उदय हुई, इन्द्रियोंमें क्रियाशीलता आयी। अतिशय कष्टसे अपने आठों नेत्र उन्मीलित कर वे बाहरकी ओर देखने लगे। इस बार अपनी सत्ताका, जगत्का उन्हें पुनः अनुसंधान प्राप्त हुआ। अन्यथा इससे पूर्व तो श्रीकृष्णचन्द्रका ऐश्वर्य-सिन्धु उच्छलित हो रहा था, उसकी उत्ताल तरङ्गोंमें अहंतास्पद अपने-आपका, ममतास्पद जगत्का सम्पूर्ण अस्तित्व ही विलुप्त हो चुका था—

ततोऽर्वाक् प्रतिलब्धाक्षः कः परेतवदुत्थितः।
कृच्छ्रादुन्मील्य वै दृष्टीराचष्टेदं सहात्मना॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। ५८)

हरि माया जब करि उपरामा।
खुले नयन तब लखि सब ठामा॥
जिमि कोउ मृत्यु पाइ पुनि जागै।
जहँ तहँ लखै बस्तु अनुरागै॥
तिमि यह देखत भा चहुँ ओरा।
चारि बदन कर सुख नहिं थोरा॥

ब्रह्माने चारों ओर दृष्टि डाली। सामने अवस्थित वृन्दाकाननके दर्शन हो गये। अहा! क्या कहना है, सुपक्व सुमधुर फलभारसे अवनत हुई राशि-राशि वृक्षावली, रंग-बिरंगे सुरभित कुसुमोंका आभरण धारणकर तरुश्रेणीको वेष्टित किये लतावल्लरियाँ, इनपर आसन डाले चित्र-विचित्र विहंगमोंका कलगान, हरित तृणराजि, क्षुप्-वीरुधोंका अंबार और सर्वत्र मन्द-मन्द मन्थर पवनका शीतल स्पर्श—कहीं इनकी तुलना भी है? श्रीकृष्णचन्द्रके इस परमप्रिय श्रीवृन्दावनधामको देखकर हंसवाहनके नेत्र शीतल होने लगे—

सपद्येवाभितः पश्यन् दिशोऽपश्यत् पुरःस्थितम्।
वृन्दावनं जनाजीव्यद्रुमाकीर्णं समप्रियम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। ५९)

बृंदाबन-श्री निकट निहारी।
तरु अति ललित फलित फल भारी॥
बिरुध-लता-तृन-गुल्म सुहावन।
सकल जीव बहु अति मन भावन॥
सदा बसंत सघन तरु छाया।
कुहकत कोकिल मोर सुहाया॥
जीवत जीव अमित चहुँ ओरा।
निस दिन तिन कहुँ सुख नहिं थोरा॥

× × ×

श्रीबृंदाबन सघन सरस सुख नित छबि छाजत।
नंदनबन-से कोटि-कोटि जिहि देखत लाजत॥
तैसिय निर्मल-नीर निकट जमुना बहि आई।
मनहुँ नील-मनि-माल बिपिन पहिरें सुखदाई॥
अरुन, नील, सित, पीत, कमल-कुल फूले फूलनि।
जनु बन पहिरें रंग-रंग के सुरँग दुकूलनि॥
इंदीवर कह्लार कोकनद पद्मनि ओभा।
मनु जमुना दृग करि अनेक निरखति बन-सोभा॥
तिन मधि झरत पराग, प्रभा लखि दृष्टि न हारति।
निज घरकी निधि रमा रीझि जनु बन पर वारति॥
सरस सुगंध पराग छके मधु मधुप गुँजारत।
मनु सुषमा लखि रीझि परसपर सुजस उचारत॥
पुलिन पबित्र, बिचित्र चित्र बिचित्रित जहँ अवनी।
रचित कनक, मनि-खचित, लसत अति कोमल कमनी॥
जल में झांहीं झलमलाति प्रतिबिंबित सरसैं।
जल के भ्रमर तरंग रंग-रंगनि के दरसैं॥
तट पै ताल, तमाल साल गह्वर तरु छाए।
सभा-काज रितुराज बितान मनहुँ तनवाए॥
कलपबृक्ष, संतान, पारिजातक, हरिचंदन।
देवदारु, मंदार, अगर, अंबर, मलयज घन॥
तिनपर चढ़ि करि लता उच्च अति फूल झरत खिलि।
मनु बिमान चढ़ि देवबधू बरषति कुसुमावलि॥
तुलसी, कुंद, कदंब, अंब, निंबू बहुरंगी।
बट, असोक, अस्वत्थ, अगस्त, आमई, पतंगी॥
कोबिदार, कचनार, बंस के बिरुआ चोखे।
बिजयसार, सृंगारदार, अरु चारु अनोखे॥
अमलबेत आरू, अँगूर, अंजीर, अमृतफल।
बरना, आरिनि, कर्निकार, कलियार, बेत भल॥
सेमर, तिंदुक, मधुक, बिल्व, पाकरी, पलासा।
सरस बहेरा, कुरा, कैथ, कमरख सबिलासा॥
जाइ, जायफल, बकुल, इलाइचि, लौंग, सुपारी।
कदली मिली कपूर, गहरि जिहिं लागि रहि धारी॥
केतकि अरु केवरा, नागकेसरि केसरि अति।
मेहँदी अरु माधवी मधुरि, मल्ली अरु मालति॥
फूली चंपक फैलि रही जिहि सुगंध बिसाला।
निज गुन मनहुँ प्रकासि लसनि नव-जोबन बाला॥
नागबेलि, बेला, प्रबाल कौ है बिस्तारा।
नरगस, मुक्ता, मदनबान, मोगरा, निवारा॥
सुगंधार, सतबर्ग, जीवबंधुक अरु दौना।